

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 5 अंक 2

अक्तूबर-दिसम्बर 2007

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति
लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक
बी. बी. कुमार

आस्था भारती
दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. बालीद्वीप में आचार्य रघुवीर	13
2. हिन्दी-उर्दू एकीकरण का सवाल विजय देव नारायण साही	31
3. राष्ट्रीय प्रगति और अध्यापक जगमोहन सिंह राजपूत	37
4. प्रथम स्वातंत्र्य समर : राष्ट्रवाद का उभार कैलाशचन्द्र पन्त	43
5. आवश्यकता है प्रेमचन्द्र के समग्र मूल्यांकन की कुमार विमल	49
6. प्रेमचंद तेलुगु साहित्य जगत में विजयराघव रेड्डी	58
7. प्रेमचंद की कहानी 'जिहाद' और आज का इस्लामी आतंकवाद कमल किशोर गोयनका	64
8. पुस्तक समीक्षा : समाज : दार्शनिक परिशीलन राम बहादुर राय	74
9. तसलीमा और इस्लाम की स्त्री समस्या शंकर शरण	79
10. निर्वासित नारी की कविता तसलीमा नसरीन	88

11.	द्विराष्ट्रवाद का विष-बीज नरेन्द्र कोहली	95
12.	पाठकीय प्रतिक्रिया	105
13.	प्राप्ति-स्वीकार	108

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आतंकवाद से लड़ाई

अभी अभी दंतवाड़ा में नक्सलियों द्वारा जेल तोड़ने की घटना के बाद प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में नक्सलवाद के खिलाफ युद्ध का आह्वान करते हुए उसे समूल नष्ट करने की बात की है। उन्होंने मुख्यमंत्रियों से इसके लिए विशेष पुलिस बल बनाने, आतंकवादी संगठनों द्वारा पैसा उगाही पर रोक, आदि कई सुझाव दिए; उन्हें संसाधन उपलब्ध कराए जाने का भरोसा भी दिलाया। ऐसी घोषणाएँ अतीत में भी की गयी हैं। सार्थक परिणाम के अभाव में लोगों का विश्वास ऐसी घोषणाओं से उठता जा रहा है। फिर भी लगता है कि इस बार ऐसा नहीं होगा। सार्थक परिणाम सामने आयेगा।

उल्लेख्य है कि इस देश में तीन तरह के आतंकवादी-अलगाववादी संगठन कार्यरत हैं। हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद इन तीनों तरह के संगठनों- नक्सलवादी, मजहबी एवं मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी की न केवल संख्या ही बढ़ती रही है, बल्कि उनका लगातार क्षेत्र विस्तार भी हुआ है। इसके कई कारण हैं, जिनका निवारण आवश्यक है।

इस देश में आतंकवादियों के पास राज्य पुलिस-बलों से अधिक आधुनिक अस्त्र-शस्त्र हैं। समस्याग्रस्त राज्य सरकारों के बीच तालमेल के अभाव में आतंकवादी एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर बच निकलते हैं। पूर्वोत्तर के आतंकवादी संगठनों के सुरक्षित कैम्प पड़ोसी देशों विशेषकर बांग्लादेश में हैं। इस समस्या के निदान के लिए पुलिस बल को आधुनिक अस्त्र-शस्त्र मुहैया कराना तथा विभिन्न राज्यों की आतंक विरोधी कार्रवाइयों में तालमेल बिठाना आवश्यक है।

इस देश में तीनों तरह के आतंकवादी हर जायज नाजायज तरीके से पैसे जमा करते हैं। इसमें जबरन वसूली, बैंक-डकैती, नशीली वस्तुओं की अवैध तस्करी सब कुछ सामिल है। पूर्वोत्तर के कई आतंकवादी संगठन अपने एजेटों के नाम पर सरकारी ठेका लेते हैं, काम आधा अधूरा कराते हैं; नक्सली विकास मद के पैसे में कमीशन लेते हैं और भ्रष्ट सरकारी अफसरों को बचाते हैं। यदि विकास का लाभ समाज के सबसे वंचित वर्ग तक नहीं पहुँच पा रहा है तो उसके सबसे बड़े कारकों में नक्सलवादी तथा अन्य आतंकवादी संगठनों द्वारा उत्पन्न बाधा को गिना जा सकता है। राजनीतिक इच्छा शक्ति जगाकर तथा प्रशासन को चुस्त दुरुस्त कर इस समस्या का समाधान एक सीमा तक संभव है।

राजनीतिक दलों एवं व्यक्तियों द्वारा नक्सलवादियों एवं अन्य तरह के आतंकवादी संगठनों से लाभ लेने तथा उन्हें लाभ पहुँचाने के इस देश में काफी उदाहरण हैं। यदि

सचमुच इस देश को आतंकवाद के रोग से मुक्त कराना है तो राजनीतिक दलों एवं व्यक्तियों, सरकारी अफसरों, आदि से आतंकवादियों को मिलनेवाली हर प्रकार की सहायता बन्द कराने का प्रभावी उपाय खोजना होगा।

किसी भी नक्सलवादी साहित्य में यह बात नहीं लिखी है कि उनकी लड़ाई का आधार सामाजिक-आर्थिक है। लेकिन यह बात भारत की संसद, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों, समाचार माध्यमों में सर्वत्र सुनायी देती है। वास्तविकता तो यह है कि नक्सलियों का एकमात्र घोषित लक्ष्य सत्ता-प्राप्ति है। कहा जाता है कि समाज में असमानता है, शोषण है, अन्याय है और उसके प्रतिकार के लिए नक्सलवादी गोली चलाते हैं। वास्तविकता यह है कि इक्के दुक्के अपवादों को छोड़कर नक्सलवादी गोली गरीबों, पीड़ितों, शोषितों, नंगे-भूखों एवं दो बीघा जमीन वालों के सीने पर ही चलती आयी है। वस्तुतः मनमोहन सिंह का बौद्धिक मोर्चा अत्यन्त कमजोर है। विडम्बना यह है कि जिन्हें उनके बौद्धिक मोर्चा पर होना चाहिए था, वे नक्सलियों का मोर्चा सँभाले खड़े हैं; वे समाज में भ्रम फैलाकर आतंकवादियों को लाभ पहुँचा रहे हैं। हम अपने व्यक्तियों, लेखकों से जनता में लगातार गलत एहसास पैदा कराते हैं कि नक्सलवादी लड़ाई का आधार सही है। इससे लड़ाई कठिन हो जाती है।

पूर्वोत्तर के नक्सलवादी आतंकवाद के बौद्धिक मोर्चे की स्थिति भी अच्छी नहीं है। क्षेत्र के आतंकवाद के सबसे सशक्त अलगाववादी/आतंकवादी संगठन का मुखिया अपने 'विशिष्ट इतिहास' की बात कई बार कह जाता है, दिल्ली चुपचाप सुन लेती है। वे सारे उपनिवेशवादी मिथक बार बार दुहराए जाते हैं, जिन्हें विदेशियों ने हमारे देश, हमारे समाज को कमजोर करने, उन्हें भीतर से तोड़ने के लिए खोजे थे। हम उत्तर नहीं देते। पिछले पचास-पचपन वर्षों के दौरान पूर्वोत्तर भारत में हम यह विश्वास नहीं जगा पाये कि दिल्ली की विकास की पहल गोलियों के डर से नहीं होती, कि सामाजिक दुराव विकास योजनाओं की पहल का कारक नहीं होता।

मजहबी आतंकवाद की स्थिति भी दिन प्रति-दिन बदतर होती जा रही है। बम विस्फोटों की बारदातें बढ़ी हैं। बौद्धिक उलझाव भी सबसे अधिक मजहबी आतंकवाद के प्रति ही है। इसका सबसे बड़ा कारण व्होट-बैंक की राजनीति है; इस्लामी आतंकवाद की जानकारी का अभाव भी। बौद्धिक वर्ग को इस्लाम की पूरी समझ होनी चाहिए, जो आज नहीं है; न हिन्दुओं को और न मुसलमानों को। **इस देश की जिहादी विचार-धारा शत्रु-बोध पैदा करती है, घृणा फैलाती है। हम उसकी चर्चा तक करने से कतराते हैं।**

पूर्वोत्तर में बांग्लादेशी-आई.एस.आई.-जेहादी साँठगाँठ के प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। इस साँठगाँठ का एक पहलू पूर्वोत्तर के उत्फा तथा अन्य

अलगाववादी-आतंकवादी संगठनों द्वारा उनको सहायता पहुँचाना भी हैं। अभी कुछ दिन पहले ‘पिपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी आफ इण्डिया’ के अध्यक्ष सरदार अमजद अली, जो दो बार पश्चिम बंगाल के बसीरहाट से कांग्रेसी सांसद रहे, तथा नक्सली नेता संतोष राणा, महासचिव, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी), असम में चार दिन रहकर सोणितपुर, मोरीगाँव, बरपेठा एवं दरंग जिले के 41 गाँवों में असम युनाइटेड डेमोक्रेटिक-फ्रंट के पंचायत चुनाव के उम्मीदवारों के पक्ष में चुनाव प्रचार करके गये हैं। ध्यान देना चाहिए की यह पार्टी असम से बंगलादेशियों के निकाले जाने का विरोध करती रही है। युनाइटेड रिवोल्यूशनरी काउंसिल आफ असम भी इस दल के 100 उम्मीदवारों के पक्ष में प्रचार कर रही है। यह पूर्वोत्तर में नक्सली-साम्प्रदायिक गठजोड़ का नया पहलू है। इधर जेहादी तत्वों द्वारा असम के नदी द्वीपोंवर क्षेत्र में गाँजा की खेती के समाचार भी मिले हैं। स्थिति चिन्ताजनक है।

भारतीय नक्सलवादी कश्मीर एवं पूर्वोत्तर के अलगाववादियों का खुलकर समर्थन देते रहे हैं। नेपाली नक्सलियों से उनकी साँठगाँठ हैं। इधर नेपाली नक्सलवादी उत्तरांचल में भारतीय क्षेत्र हथियाने की चेष्टा कर रहे हैं। तिरुपति से नेपाल के लाल ‘कॉरिडोर’ की योजना में उनकी सहमति रही है, फिर भी नेपाल में हमारी नीति साफ नहीं रही। इससे नक्सलियों को लाभ पहुँचा। इस संदर्भ में **भारतीय कम्युनिस्टों का व्यवहार बड़ा बेतुका है।** एक तरफ तो वे नेपाल जाकर नक्सलियों को लाभ पहुँचाते हैं। दूसरी तरफ नन्दीग्राम की हिंसा के लिए उन पर दोषारोपण भी करते हैं।

यह सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि असम में कांग्रेस तथा पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्टों ने अवैध बांग्लादेशियों को बसाया। भारतीय जनता पार्टी ने भी असम के विवादित आइ.एम.डि.टी. एक्ट को हटाने की सार्थक पहल नहीं की। यह खेल आज भी चल रहा है। यह जानते हुए भी कि जेहादी-आई.एस.आई.-बांग्लादेशी गठजोड़ की योजना भारत के पूर्वी भाग को तोड़कर बृहत्तर मुस्लिम राष्ट्र बनाने की है, अवैध बांग्लादेशियों को हटाने की सार्थक पहल का न होना, जबकि आज की बढ़ती जेहादी आतंकवादी घटनाओं में उनकी सहभागिता के लगातार प्रमाण मिल रहे हैं, रोग के बढ़कर असाध्य होते जाने का लक्षण है।

इस देश में **थोक वोटों की राजनीति** से किसी दल को परहेज नहीं, राष्ट्रीय दलों की भी नहीं, जिन्हें हम सशक्त देखना चाहते हैं। इससे गणतंत्र एवं धर्म-निरपेक्षता दोनों बाधित होती है, विकास मन्द होता है, आपसी सद्भाव घटना है। इससे वे मुसलमान कमजोर पड़ते हैं जो उदार हैं। यहाँ मैं उन उदारवादी कम्युनिस्ट मुसलमानों तथा उनके चेलों की बात नहीं करता जो राष्ट्र के बँटवारे तक मुस्लिम लीगी थे और आजादी के बाद कम्युनिस्ट या कांग्रेसी बन गये और जरा सा खुरचते ही जिनकी उदार

धर्म-निरपेक्षता का असली रंग दिखने लगता है। हमीद दलवाई ने अपनी पुस्तक 'मुस्लिम पालिटिक्स इन सेक्युलर इण्डिया' में इनके विषय में सही जानकारी दी है।

बहुत बार इस देश की राजनीति आदि के शीर्ष पर बैठे लोगों के ऐसे वक्तव्य आते हैं, जिनका तात्कालिक अस्थायी लाभ तो उनको या उनकी पार्टी को मिलता है, पर राष्ट्र घाटे में रहता है, साम्प्रदायिक सौहार्द घटता है, सम्प्रदाय-विशेष के लोगों को गलत संदेश मिलता है कि वे पक्षपात के शिकार रहे हैं। इसके दो उदाहरण देना समीचीन होगा। आज से लगभग 5 वर्ष पहले भारतीय जनता पार्टी ने मुसलमानों के ट्रिपल इम्पावरमेन्ट की बात की थी; प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह न केवल संसाधनों पर उनके प्रथमाधिकार की बात कर रहे हैं, बल्कि उसे क्रियान्वित भी कर रहे हैं। राजनीतिक लाभ के लिए की गयी इन घोषणाओं में दो बातें भुला दी गयी हैं: (क) नागरिक केन्द्रित नीति वक्तव्यों एवं उनके कार्यान्वयन द्वारा सभी धर्मावलम्बियों के साथ न्याय संभव है, मुसलमानों के साथ भी तथा (ख) किसी भी धर्म के माननेवाला जन समूह सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से समरूप या समांगी नहीं होता। अतः सरकार की गलत नीतियों के फलस्वरूप मुसलमानों के गरीब वर्ग को तो लाभ नहीं ही पहुँचेगा, लाभ उनके सम्पन्न 'क्रिमी लेयर' को मिलेगा और वे एक नया **दबाब दल (प्रेसर ग्रुप) बनकर उभरेंगे।**

इस देश में जब भी जेहादी आतंकवादी बम फोड़ते हैं तो कहा जाता है कि 'इस्लाम शान्ति का धर्म है'। अभी अभी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखिया श्री सुदर्शनजी ने भी इस समवेत स्वर में अपना स्वर मिलाया है। श्री सुदर्शनजी का इस्लाम या अरबों के इतिहास का कितना ज्ञान है, हम नहीं जानते। लेकिन इस तथ्य की प्रामाणिकता तो देवबन्द या बरेली के इस्लामी विद्वानों के अभिमत से ही सिद्ध हो सकती है। उनकी स्वीकृति अधिक प्रभावी हो सकता है। और यदि वे इस्लाम के नाम पर अशान्ति फैलानेवालों के विरुद्ध फतवा जारी कर सकें तो उसका प्रभाव तो पड़ेगा ही।

आतंकवाद के विरुद्ध **यह लड़ाई केवल एक मोर्चे पर लड़कर नहीं जीती जा सकती और न केवल एक तरह के आतंकवाद से लड़कर। इसमें जनता की सहभागिता भी आवश्यक है** और वह तभी संभव है जब वह तथ्यों से अवगत हो, वैचारिक धुंध का शिकार न हो। भारतीय आतंकवाद का सबसे कमजोर पक्ष वैचारिक/सैद्धान्तिक (ideological) है, जिसे हम बिना लड़े ही हार रहे हैं। लेकिन लड़े बिना हमारे पास कोई रास्ता नहीं है। आवश्यक है कि लड़ाई, बन्दूक और विचार, दोनों से हो; निहित स्वार्थों के दबाब में बीच में न रोकी जाय। राजनीतिक दल किसी रूप में ऐसा न करें कि आतंकवाद को बढ़ावा मिले। आपसी सहमति से वे लक्ष्मण-रेखा न पार करने का निर्णय तो ले ही सकते हैं।

नन्दीग्राम एवं तसलीमा नसरीन प्रकरण

पश्चिम बंगाल से जुड़े नन्दीग्राम एवं तसलीमा नसरीन प्रकरण हमारी राजनीतिक, प्रशासनिक एवं बौद्धिक कमजोरियों को उजागर करते हैं। पहले का सम्बन्ध 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' की स्थापना से जुड़ा है। इस देश में विदेशी कम्पनियाँ आये, पैसे लाएँ, उद्योग लगाएँ; इस नीति की स्वीकृति में कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी एवं पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार की सहभागिता रही है। ऐसे में देशी या विदेशी कम्पनियों को उद्योग लगाने में क्या सहायता दी जाय; यदि जमीन देनी हो तो वह कैसी हो और कहाँ दी जाय; इन प्रश्नों का हल मिलजुल कर सर्व-सम्मति से सभी राजनीतिक दलों की निकालना चाहिए था। दुर्भाग्यवश, ऐसा हुआ नहीं। केन्द्र एवं राज्य सरकारों, संसद एवं राज्य विधान सभाओं, ने भी इसके लिए आर्थिक नीति-निर्धारण की पहल न करके संवेदनहीनता का परिचय दिया। **ऐसे में सिंगुर या नन्दीग्राम में जमीन देने की पहल के लिए केवल बुद्धदेव भट्टाचार्य या पश्चिम बंगाल की सरकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।** आखिर जमीन दिए जाने का विरोध दूसरे राज्यों में भी हुआ था। फिर जिनकी जमीन ली जाती है, उन्हें मात्र पैसे देकर सरकारें अपने कर्तव्य का इतिश्री मान लेती हैं, यह गलत है। विस्थापित अपना जीवन सुचारू रूप से चला सकें, इसके लिए भी समुचित नीति निर्धारण एवं पहल आवश्यक है। आवश्यक है कि **नीतिगत निर्णय दलगत राजनीति के स्तर से ऊपर उठकर किए जाएँ।** फिर जमीन अधिग्रहण संबंधी नीति आदि का अभाव ही नन्दीग्राम की एकल समस्या नहीं है। समस्या के अन्य पक्ष भी हैं। जैसे, **सरकारों का हिंसा की भाषा ही समझना; राजनीतिक दलों की हिंसा की प्रवृत्ति, राजनीतिकों एवं बौद्धिकों की जनता की समस्याओं के प्रति संवेदनहीनता।**

पश्चिम बंगाल के पूर्वी मेदिनीपुर का नन्दीग्राम क्षेत्र पिछले एक लगभग एक वर्ष से राजनीतिक गुण्डागर्दी का शिकार रहा है; लोग हिंसाग्रस्त एवं आतंकग्रस्त रहे हैं। नन्दीग्राम समर-क्षेत्र बन गया। वहाँ खुलकर खून की होली खेली गयी। वहाँ पिछले दिनों जमीन में गड़े लोगों के शव मिलते रहे हैं, जिसमें बच्चों, स्त्रियों, बूढ़ों के शव सामिल हैं। वस्तुतः एक समझौते की तहत पश्चिमी बंगाल की सरकार को बुनियादी ढाँचे के विस्तार तथा रसायनिक उद्योग के विकास के लिए इण्डोनेशिया की कम्पनी 'सलेम ग्रुप' को 14 हजार एकड़ से अधिक जमीन का अधिग्रहण करना था। इसके विरोध में **भूमि उच्छेद प्रतिरोध समिति** का गठन हुआ। हिंसा का प्रारंभ एक साल पहले ही हुआ, जब 3 जनवरी 2007 को पुलिस को गोली चलानी पड़ी। 14 मार्च 2007 की पुलिस कारवाई में 14 लोग मारे गये। एक दिन बाद कलकता उच्च न्यायालय ने सीबीआई जाँच के आदेश दिए।

उल्लेख्य है कि **पश्चिम बंगाल में हिंसा की राजनीति का लम्बा इतिहास** रहा है। मारिचझाँपी में बंगलादेश से प्रताड़ित होकर आये शरणार्थियों पर गोलियों की बौछार हुई। नानपुर, केशपुर, गरबेटा, आदि की हिंसा भी भुलाई नहीं जा सकती। फिर **हिंसा के साधन के रूप में प्रयोग को मार्क्सवादी स्वीकृति** प्राप्त है। मार्क्स के अनुभाइयों ने जितने लोगों को मारा, जितने अपराध किए, उतने और किसी ने नहीं। इस देश में भी, आजादी मिलते ही, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने *‘रणदिवे मताग्रह’* की तहत हिंसा द्वारा सत्ता-पलट का प्रयास किया था। मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों-माओवादियों की हिंसा आज भी दिन-दिन बढ़ती जा रही है। 14 मार्च 2007 तथा उसके पहले की हिंसक घटनाओं में भी प्रदेश के शासक-दल की हिंसक सहभागिता रही है। फिर 10 नवम्बर 2007 को नन्दीग्राम के गाँवों को मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने पुनः हिंसक तरीके से ही कब्जाया और इसमें राज्य के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य के साथ ही अन्य मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नेताओं की सहभागिता थी। **पालितव्युरो सदस्य, वृन्दा कारत, वाम-मोर्चा अध्यक्ष, बिमान बोस, बिनय कोनार आदि हिंसा की भाषा बोल रहे थे; ज्योति बसु भी इसके अपवाद नहीं थे।**

नवम्बर में नन्दीग्राम के गाँवों को कब्जा करने के दौरान सबसे आगे “बंधक” ग्रामीण, फिर सी.पी.आई (एम) के लोग और अन्त में उनके सशस्त्र दस्ते चल रहे थे। अपने लोगों को बंधक हुआ देख विरोधियों ने गोली नहीं चलाई, अन्यथा उन्हें भी हिंसा से परहेज नहीं था।

नन्दीग्राम लगातार रणक्षेत्र बना रहा। वहाँ हत्या, आगजनी, विनाश, सब कुछ हुआ; नारियों का शील-हरण भी, जो रणभूमि में नहीं होता। ऐसा होने पर भी नोआम चोम्स्की एवं तारिक अली जैसे कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी सलाह दे रहे थे कि नन्दीग्राम की चर्चा न की जाय, क्योंकि उससे अमेरिका के साम्राज्यवादी हाथ सशक्त होंगे। इरफान हबीब, प्रभात पटनायक आदि, पार्टी से जुड़े बुद्धिजीवी, न केवल नन्दीग्राम की अनदेखी करते रहे; वे इसलिए दुखी हैं कि राज्य सरकार ने भारतीय जनता पार्टी तथा अन्य लोगों को वाम मोर्चा सरकार पर निशाना साधने का मौका दे दिया। जब चोटी के कम्युनिस्ट बौद्धिकों की खण्डित संवेदना या संवेदनाहीनता की यह दशा है, तो विभिन्न मंचों, शिक्षा संस्थानों, प्रसार-माध्यमों में कार्यरत, उनकी सेना के व्यवहार का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

आज से डेढ़ महीना पहले नन्दीग्राम प्रकरण से एक घटना और जुड़ गयी। मुसलमानों के एक मंचआल इण्डिया माइनारिटी फोरमने नन्दीग्राम की घटनाओं का विरोध करने के लिए मध्य कोलकाता में एक विरोध रैली का आयोजन किया, जिसमें रैली का मुद्दा सामाजिक-आर्थिक से बदलकर साम्प्रदायिक हो गया। रैली में बंगलादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन का व्हिसा न बढ़ाने तथा उसे इस देश से भगाए

जाने के नारे लगे। रैली करनेवालों ने रास्ता रोके, गुजरती गाड़ियों एवं पुलिस बल पर आक्रमण किए। उनका उद्देश्य उपद्रव का क्षेत्र-विस्तार करने का, दंगा फैलाने का था। राज्य सरकार को सेना बुलानी पड़ी; हिंसा दंगा का रूप न ले सकी। इस प्रकरण का सबसे दुखद पक्ष यह रहा कि राज्य-सरकार मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों के हिंसक दबाव में आ गयी; उसने तसलीमा नसरीन को बिना राजस्थान सरकार को सूचित किए जयपुर भेज दिया। **नन्दीग्राम में लोकतंत्र आहत हुआ था; तसलीमा नसरीन प्रकरण ने मार्क्सवादियों के 'सेक्युलरवाद' का असली रूप सबके सामने उजागर कर दिया।** सहसा विश्वास नहीं होता, और सदमा भी पहुँचता है, जब हम पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एवं उस राज्य में शासन कर रहे वाम मोर्चा के अध्यक्ष विमान बसु को कहते सुनते हैं कि यदि तसलीमा नसरीन के रहने से राज्य में शान्ति-व्यवस्था भंग होती है तो उसे पश्चिम बंगाल छोड़ कर चला जाना चाहिए। हमें खुशी है कि विमान बसु ने किसी कारणवश शर्म से या अन्य कारणों से अपना वक्तव्य अगले दिन वापस ले लिया।

तसलीमा नसरीन पिछले लगभग चार वर्षों से कोलकता में रह रही थी। इतने दिनों तक उनके व्हिसा बढ़ाए जाने का विरोध नहीं हुआ। फिर अचानक ऐसा क्या हुआ कि विगत अगस्त महीने में हैदराबाद में आन्ध्र प्रदेश के दो मुसलमान विधायकों के नेतृत्व में उनपर आक्रामक प्रहार किया गया? कोलकता के बाद जब वे जयपुर पहुँची तो एक इस्लामी संगठन ने श्रीमती नसरीन को धमकी दी। फिर उन्हें दिल्ली लाकर सुरक्षित रखा गया।

तसलीमा नसरीन एक अच्छी लेखिका हैं। वे मूलतः मानवतावादी हैं। अपनी पुस्तकों “लज्जा” एवं “द्विखण्डिता” में वे बांग्लादेश में व्याप्त नारी उत्पीड़न एवं बांग्लादेश के हिन्दुओं के उत्पीड़न का सवाल उठाती हैं, जो वहाँ के इस्लामी कट्टरपंथियों को बिल्कुल पसन्द नहीं। एक बात और। **तसलीमा का मानवतावादी दृष्टिकोण मात्र दिखाऊ नहीं है। वे उसकी कीमत चुकाती रही हैं।** युरोप के उत्तरी पश्चिमी देशों एवं फिर भारत में निर्वासन का दण्ड भुगतती तसलीमा को अपनी आवाज बन्द रखने की सलाह दी गयी है। लेखिका ने अपनी पुस्तक “द्विखण्डिता” के विवादित दो पृष्ठ जिसे आधार बनाकर पश्चिम बंगाल सरकार ने उस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया था, एवं कलकत्ता उच्च न्यायालय ने उस लेखन में कुछ भी अनुचित नहीं पाया था हटाने की घोषणा कर दी है। लेखिका के घोषणा के बाद ‘जमियत उलेमा-ए-हिन्द’ के महासचिव मौलाना महमूद मदनी ने उसे माफ करने की बात की है, लेकिन अन्य, जैसे मिल्ली इत्तेहाद परिषद जो बारह इस्लामी संगठनों का मंच है के संयोजक सिद्दिकुल्ला चौधरी, ने नहीं। उनके एक सहयोगी का बयान भी आया था कि नन्दीग्राम के बोझ तले दबी राज्य सरकार को तसलीमा नसरीन का बोझ उठाने से बचना चाहिए।

माक्सवादी बौद्धिकों की अपने राजनीतिक आकाओं के प्रति अंधी पक्षधरता एवं उनकी खण्डित संवेदनशीलता, जो एक बार फिर उद्घाटित हुई है, कोई नयी बात नहीं है और न माक्सवादियों की हिंसा की राजनीति, उनके द्वारा प्रशासन तंत्र, शिक्षा-तंत्र का राजनीतिकरण, आदि। उनकी निर्लज्ज अनैतिकता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि प्रदेश में उनकी सरकार होने पर भी उनके पार्टी कैडर स्वचालित अस्त्रों के बल पर प्रदेश के ही क्षेत्र विशेष पर कब्जा जमाते हैं और उनका मुख्यमंत्री कहता है कि नन्दीग्राम में विरोधियों को मुँहतोड़ जवाब मिल गया। माक्सवादी कम्युनिष्टों के वरिष्ठ नेता, ज्योति बसु ने यह कहकर कि तसलीमा कोलकाता में रह सकती है, यदि केन्द्र सरकार उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी ले, प्रकारान्तर से यह स्वीकार किया है कि उनकी पार्टी की सरकार एक अदना सी एकल नारी की सुरक्षा देने में भी असमर्थ है। ऐसी अवस्था में क्या उनकी पार्टी न्याय-व्यवस्था की जिम्मेदारी राज्य सरकारों से लेकर केन्द्र सरकार को सौंपने के किसी संवैधानिक प्रस्ताव का समर्थन करेगी?

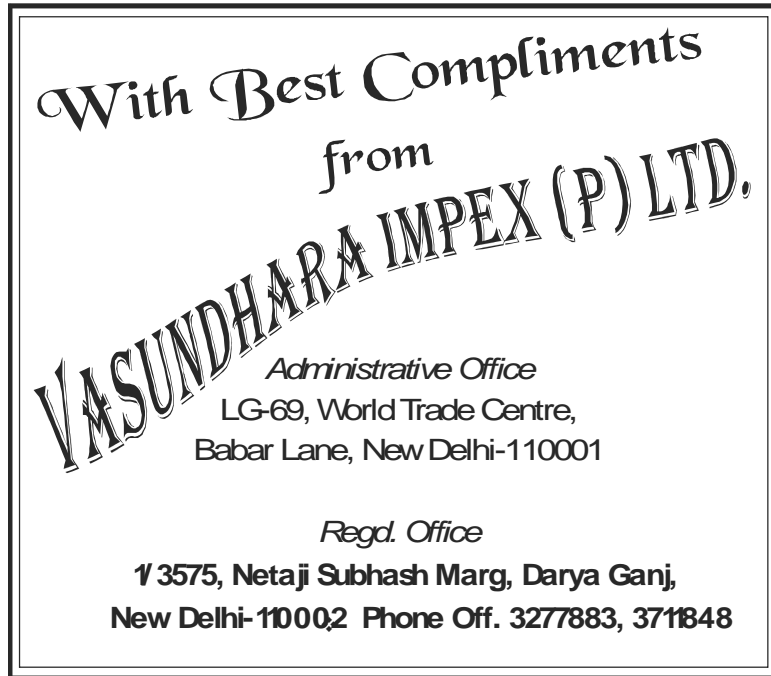
इस प्रकरण का एक दूसरा दुखद पहलू भी है। माक्सवादियों द्वारा पिछले नवम्बर में नन्दीग्राम के सशस्त्र कब्जे के पहले के आठ महीने की अवधि में उनके विरोधियों ने माक्सवादी कम्युनिष्ट पार्टी के लोगों को अपने घरों में लौटने नहीं दिया गया। इसके लिए भूमि उच्छेद प्रतिरोध समिति, ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस, मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्त्वों एवं नक्सलियों का गठजोड़ उत्तरदायी रहा है। राजनीतिक दलों, 'मिडिया' एवं बौद्धिकों द्वारा इसकी अनदेखी ऐसी बात नहीं है जो इस देश में पहली बार हो रही हो। इस देश में **राजनीति की अनैतिक विचलन, 'मिडिया' की एकपक्षीयता एवं बौद्धिकों की कुठित संवेदनशीलता** के उदाहरण ही तो दिखायी देते हैं। क्या इस देश के जनसाधारण के दुख दर्द को कम्युनिष्ट-गैर-कम्युनिष्ट, हिन्दु-मुस्लिम आदि खानों में विभाजित न करके 'नागरिक-केन्द्रित' दृष्टि से देखने का समय नहीं आया है? क्या कोलकाता के बौद्धिकों की शान्ति-रैली को पहले नहीं किया जाना चाहिए था? क्या तसलीमा नसरीन के साथ जो कुछ हुआ, उस पर भारतीय बौद्धिकों को महाश्वेता देवी जैसे कुछ को छोड़कर चुप्पी साधनी चाहिए थी?

हमारे विदेश-मंत्री, प्रणव मुखर्जी ने नसरीना को आश्वस्त किया है कि वे इस देश में बनी रहेंगी। साथ ही उन्होंने यह सलाह भी दिया है कि वे ऐसा कुछ न करें जिससे इस देश के लोगों की भावनाएँ आहत होती हैं। **प्रणव मुखर्जी से पूछा जाना चाहिए कि वे किनकी भावनाओं को आहत न करने की बात कर रहे हैं?** उनकी, जो हिंसक तरीके से अपनी गलत बात मनवाने में विश्वास करते हैं? या उनकी, जिन्हें गणतंत्रिक तौर तरीके में विश्वास नहीं और जिनका सांप्रदायिक एजेण्डा सर्व-विदित है? स्वष्टतः प्रणव मुखर्जी जिनकी भावनाओं की ठेस न लगने की बात कर

रहे हैं, वे इस देश के प्रतिनिधि नहीं। फिर तसलीमा बांग्लादेश के सबसे अधिक उत्पीड़ित-प्रताड़ित वर्ग वहाँ के नारी समाज तथ हिन्दू अल्पसंख्यक, जिनमें अधिकांश दलित नामशूद्र हैं के दुख-दर्द की बात करती हैं। ऐसे में उनकी आवाज दबाए जाने की इस देश के लोग स्वीकृति नहीं देंगे।

तसलीमा प्रकरण ने इस भ्रम को तोड़ा है कि भारत एवं बांग्लादेश की मुस्लिम अतिवादियों की सोच एवं तौर-तरीके अलग अलग हैं। समय आ गया है कि उन्हें यह अनुभव कराया जाय कि नारी उत्पीड़न का दौर बहुत दिन चलनेवाला नहीं है और न हिंसा द्वारा अपनी बात मनवाने का। फिर सभी औरतें हमारी माँएँ, बहनें और बेटियाँ हैं और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे या हम हिन्दू हैं कि मुसलमान।

ब्रज बिहारी कुमार



बालीद्वीप में

आचार्य रघुवीर*

भारतीय संस्कृति की उपासना का अर्थ निरन्तर तपस्या और गम्भीर यातना है। आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व एक फ्रेंच विद्वान ने 'बाली के संस्कृत ग्रन्थ' इस शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। यद्यपि पुस्तक छोटी सी थी किन्तु इसका अध्ययन रोमांचकारी हुआ। हृदय में तीव्र कामना उत्पन्न हुई, कि इस द्वीपरत्न के दर्शन किए जाएँ। यदि योरोप और अमरीका में बाली को विश्वयात्रियों का परम तीर्थस्थान माना जाता है, तो भारत में तो यह परमश्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

1951 की 27 जून को कलकत्ते के डमडम विमानपत्तन से यूनेस्को नामक डच विमान में पूर्व की यात्रा आरम्भ हुई। 3 घण्टे 40 मिनट में थाईदेश की राजधानी बैंकॉक में विमान उतरा। वहाँ रात्रि विश्राम के लिए ठहरे। भारतीय मित्रों ने स्वागत किया। सांस्कृतिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए एक मित्र ने कहा

"In slavery India fought for her soul, in freedom she lost her soul."

28 को प्रातः 7 बजे उड़कर विमान साढ़े तीन घण्टे में सिंगापुर के महान् समुद्र-द्वार पर उतरा।

द्वीप-स्पर्श

दोपहर के भोजन के पश्चात् यहाँ से प्रस्थान करके 3 बजे जावा की राजधानी जयकर्ता में उतरे। 1 मास 10 दिन जावा और सुमात्रा के ऐतिहासिक स्थानों का पर्यटन करने के पश्चात् शके श्रावण शुक्ला पञ्चमी को प्रातः ही विमान से उड़कर 11 बजे बाली के विश्वविख्यात नगर देन्पासार में भूमिस्पर्श किया। हृदय गद्गद हुआ कि आज चिरप्रतीक्षित मनःकामना की पूर्ति होगी। गुप्त-कालीन भारत का साक्षात्कार होगा। इससे बढ़कर और क्या जादू होगा कि 10, 15 शताब्दियाँ पार करके एक भारतीय अपने अतीत को मूर्तिमान देख सके, अनुभव कर सके, उसके जीवन का अंग बन सके। यह स्वप्न नहीं सूर्य के प्रकाश में होने वाली तथ्यानुभूति है। दोनों हाथों से

* यह लेख पचास से अधिक वर्ष पूर्व हमारे मनीषी परम विद्वान प्रोफेसर (डॉ.) रघुवीर द्वारा लिखा गया था।

आँखें मलीं कि कहीं भ्रम न हो। विमानपत्तन से समुद्र नीलमणिमय शान्त किन्तु मित्रों के कथनानुसार भयानक, रुद्ररूप, नहाने वालों के प्राण हरण करने वाला तथापि निरुपम शोभा वाला। पूर्व प्रबन्ध के अनुसार बाली होटल की गाड़ी हमको लेने आई। हृदय की उत्सुकता वायुमण्डल में प्रतिबिम्बित थी। होटल के द्वारों पर प्राचीन देवी देवताओं की महाकार मूर्तियाँ स्वागत तथा रक्षा के लिए विराजमान थीं। इनकी सौम्यता, वैभव और मनोज्ञता में भी दृढ़ता, प्रतिष्ठितपादता इतनी बलवती थी कि हृदय को आश्वासन होता था कि यह देश और इस देश के निवासी संसार में अविचलित हैं और रहेंगे।

होटल में निरामिष भोजन स्वादु मिला। सायंकाल को बाली द्वीप के राज्यपाल सुशान्तो आए। इनके साथ बाली के रेजिडेन्ट इ ग्दुङ् बागुस ओका तथा इ वायान् भद्र थे। सुशान्तो महोदय ने बड़े आदर और स्नेह से आलिंगन किया और अपने देश में स्वागत किया। आप यवद्वीप के निवासी हैं। मुसलमान हैं, तब भी भारतीय साहित्य, दर्शन और कला, नृत्य और नाटक से आपका अथाह प्रेम है। आपके अनुग्रह से बाली में सब प्रकार की सुविधाएँ मिलीं। आप तो अगले दिन प्रातः पास के द्वीप लम्बक में चले गए, किन्तु आपके पीछे श्री ओका और वायान् भद्र ने जो आतिथ्य किया वह जीवन भर स्मरण रहेगा। प्रातः 9 बजे श्री ओका और वायान् भद्र मुझको अपने साथ ले गए। हमारा ध्येय देन्पासार से, जो बाली के सर्वथा दक्षिण में है, सिंहराज को, जो बाली के सर्वथा उत्तर में है, जाने का था। मार्ग में चिन्तामणि नाम के पर्वत पर मध्याह्न भोजन के लिए ठहरे। यहाँ पर ही तो पंडित जवाहरलाल जी नेहरू दो वर्ष पूर्व उतरे थे और कहा था कि यह समाधिस्थान मेरे जीवन का उत्कृष्ट स्थान है। इसके चारों ओर हैं ज्वालामुखी पर्वत, चावलों की हरीभरी घाटियाँ, धुआँ और धुंध, तथा शीतल सुखवाही वायु। केशिमान और सुखावती नाम के नगरों से हम लोग होकर यहाँ आए थे।

बालीद्वीप में सेना पर्याप्त है, सैनिक पुलिस भी है। किन्तु न तो सेना में और ना ही पुलिस में कोई बालि-निवासी है। बाली के लोग शूरवीर और अदम्य माने जाते हैं। भृत्य को भृत्य नहीं कहा जा सकता। पुरुष स्त्रियों के कपड़े नहीं धोते।

आगम तीर्थ

वायान् भद्र शूद्र हैं किन्तु द्वीप के प्रमुख विद्वान हैं और क्या राजा क्या ब्राह्मण सभी आपका यथायोग्य समादर करते हैं।

अभी तक बाली में हिन्दू शब्द अज्ञात था। केवल डच शासकों के लिखे ग्रन्थों को पढ़ के ही बाली के लोगों को हिन्दू शब्द से परिचय हुआ। अभी तक बूढ़े लोग अपना धर्म 'आगम तीर्थ' बताते हैं। इनकी भाषा में आगम का अर्थ religion है। भारतवर्ष में religion का अनुवाद धर्म शब्द से किया गयासो सर्वथा अशुद्ध है।

जावा सुमात्रा आदि में भी आगम शब्द का सार्वत्रिक प्रयोग है। जावा के religious ministry का नाम 'कमन्त्रियान् आगम' है। मुसलमान अपने सम्प्रदाय को 'आगम इस्लाम' कहते हैं।

हिन्दू शब्द का प्रचलन होने में अभी कुछ और समय लगेगा। धार्मिक प्रचार के लिए बाली में 'पनित्या आगम' नाम की संस्था की स्थापना हुई। इसके सदस्य केवल बाली में ही नहीं, किन्तु लम्बक द्वीप में भी बन रहे हैं।

संगीत, कला, प्रकृति और मन्दिर

बाली के ब्राह्मण और पुजारी अधिकांश संगीत, नृत्य, स्थापत्य और मूर्तिकला, चित्रकला तथा पूजापाठ में प्रवीण हैं, किन्तु जो आक्षेप मुसलमान और ईसाई इन पर करते हैं उसका उत्तर देने में ये असमर्थ हैं। प्रकृति और मन्दिर, आमोद-प्रमोद और श्रद्धामूल नृत्य तथा उपासना, ये सब मिलकर इनका जीवन बनाते हैं। उपासना के बिना इनका जीवन नीरस हो जाएगा। उपासना में ही तो उत्सव, अच्छा खाना, अच्छा पहिनना समाविष्ट है। पर्वतशिखर, वृक्षगुल्म, झील और गुफा सभी मनोरम स्थान तो भगवान के निवास हैं। बाली का सबसे बड़ा पर्वत गुनुड् आगुड् ज्वालामुखी है। इस पर्वत से निकलने वाले धुएँ में भी तो देवों की शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। झीलों में देव रहते हैं यदि देव नहीं तो भूत। इन्हीं अद्भुत स्थानों में से एक कोशाम्बी भी है। शिव, ब्रह्मा और विष्णु गाँव-गाँव के मन्दिरों में, नहीं घर-घर के मन्दिरों में मिलेंगे। कहीं मूर्त रूप में, कहीं अमूर्त रूप में। जहाँ मूर्त रूप में नहीं वहाँ उनके बैठने के लिए ईंट और ज्वालामुखी पर्वतों के कोमल पत्थरों के बने हुए पद्मासन नामी 8, 10 हाथ ऊँचे स्तम्भ बने हैं।

देवमय जीवन

दिवस देवताओं की कृपा और अनुग्रह का प्रतीक है। रात्रि में निशाचर भूत रमण करते हैं विशेषकर कृष्ण पक्ष की रात्रि में। इनसे रक्षा करने के लिए घरों के द्वार पर भयानक मोटी-मोटी आँखें और लम्बे-लम्बे दाँत बाहर निकाले हुए पत्थर के एक-दो कुत्ते खड़े होते हैं। स्त्रियों को चत्वरो पर भूतबलि रखते देखकर चारुदत्त का सुन्दर वर्णन स्मरण आ गया। बाली में आगम के कारण भेद भावना, संघर्ष अथवा कलह नहीं होते। धन-संग्रह करना भी इनके जीवन का उद्देश्य नहीं होता। चावल, नारियल, मकई की खेती करना और सन्तोष से घरों मन्दिरों में जीवन व्यतीत करना इनके लिए परम सुख है।

पूजा के लिए श्वेत ताड़ के पत्रों से नाना प्रकार के फूल आदि बनाते हैं। प्रतिमास प्रत्येक परिवार अपने पड़ोस के मन्दिर के संधारण के लिए शालि का अंश देता है। मन्दिरों के बनाने में रुपये की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वयं किसान

ही अद्भुत चित्रकारी, मूर्तिनिर्माण और मन्दिरचित्री का काम करते हैं। एक मन्दिर के बनाने में कई-कई वर्ष लग जाते हैं। मन्दिर 70, 80 फुट से ऊँचे नहीं होते किन्तु मूर्तियों की समृद्धि में इनकी तुलना करना कठिन है।

मन्दिर, स्त्री, पुरुष, बच्चे तथा प्राकृतिक सौन्दर्य तीनों एकरस हैंयही बाली की रमणीयता है। यदि भारत और बाली की तुलना की जाए तो बाली का जीवन शुद्धतर है। शालिरोपण ब्राह्मण पुजारियों के आशीर्वाद से होता है। शालि का कटना भी। ब्राह्मण और पुजारी आलसी और दुराचारी न मिलेंगे। पूजा के समय शुद्ध भावना से जलपात्र पर मंत्रोच्चारण विशेष दृश्य है। केवल चार वर्ण ही तो बाली में विद्यमान हैंब्राह्मण, देव अर्थात् क्षत्रिय, गुप्ति अथवा वैसिय, शूद्र अथवा कौल। मनुविहित अनुलोम विवाह गाँव-गाँव में होते रहते हैं। ब्राह्मण की चार पत्नियाँएक ब्राह्मणी, एक क्षत्रिया, एक वैश्या, और एक शूद्रा सामान्य बात है। क्षत्रियों का तो पहला विवाह शूद्रा से ही होता है। कोई भी त्रिवर्ण, त्रिवंश अथवा आर्य ऐसा न मिलेगा जिसके निकट सम्बन्धी अपने से हीन-वर्ण न हों। इसका परिणाम यह है कि परस्पर कोई घृणा अथवा छुआछूत नहीं है।

निकोदेमुस

अपने राज्य के प्रारम्भ में डच ने ईसाई प्रचारक बाली में भेजे किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। लोगों ने उनका स्वागत कियाकिन्तु आगम ईसा की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। वर्षों के निरन्तर यत्न के पश्चात् भी कोई बाली-निवासी ईसाई न बना। सन् 1866 में एक प्रचारक ने दृढ़-संकल्प किया। उसने इनकी भाषा का अध्ययन किया, इनकी लिपि का अभ्यास किया और इन्हीं के समान रहने-सहने लगा। किन्तु जब उसने अपने देश को अपने कार्य का विवरण भेजा तो उसमें केवल एक व्यक्ति का उल्लेख थायह भी आधा पागल। इसका नाम निकोदेमुस रखा गया। निकोदेमुस के द्वारा अन्यों को आगम ईसा में मिलने के लिए कहलवाया जाता रहा कि यदि ईसाई न बनोगे तो मृत्यु के पश्चात् नरक में जलते रहोगे। किन्तु बाली के निवासी हँस दिया करते। निकोदेमुस अकेला रह गया। उसके साथ अब कोई बात भी न करता। सायं और रात्रि में मन्दिरों की गोष्ठी, संगीत और भोज अब उसको कहाँ मिलते। अपने देशवासियों से विरहित जब वह ईसाई प्रचारक के घर के पास जाता तो उसको नरक की यातनाएँ स्मरण हो आतीं। उसका मन भय से व्याप्त हो गया। अपना गाँव छोड़कर एक बस्ती से दूसरी बस्ती में घूमने लगा। जब लोगों ने उसे कहीं न अपनाया तब उसने क्रोध के आवेश में निशीथ के समय ईसाई प्रचारक को मार डाला। बाली निवासियों ने उसको बाँस के पिंजरे में बन्द किया और चारों ओर उठाए फिरते रहे जिससे शासकों तथा अन्य बाली-निवासियों को शिक्षा मिले। निकोदेमुस लज्जित हुआ। किन्तु इस न्यवकृति की अवस्था में भी अपने लोगों की रक्षा के लिए वह सर्वत्र

यही कहता रहा, कि मैं ईसाई हूँसच्चा बाली-निवासी नहीं हूँ। अन्त में इसको फाँसी मिली। किन्तु इसके शव का दाह-संस्कार नहीं किया गया। केवल भूमि में गाड़ दिया गया, इसलिए कि इसकी आत्मा इन्द्रलोक में न पहुँच सके।

संस्कृत का अध्ययन

बालीद्वीप में अनेक सज्जनों ने मेरे से चिरकाल तक ठहरने की प्रार्थना की। भारतीय दर्शन को सुनने के लिए वे प्यासे हैं। आजकल उनका प्रयत्न चल रहा है कि वे संस्कृत भाषा का अध्ययन, अध्यापन अपने माध्यमिक स्कूलों में प्रारम्भ कर दें। संस्कृत पढ़ा सकने वाले उनके पास तीन-चार विद्वान हैं। उनमें से एक डॉ. खोरिस हैं जो जाति से डच हैं, किन्तु 25 वर्षों से बाली में रह रहे हैं। उन्होंने ही तो बाली के प्राचीन संस्कृत शिलालेखों का सम्पादन किया है। बाली में भारत-वर्ष के प्रचारक जाने चाहिए किन्तु प्रचारकों में विशेष गुणों की आवश्यकता है। सर्वप्रथम, उनको लालची सर्वथा न होना चाहिए। द्वितीय, वे परम विद्वान हों। गीता, दर्शन, रामायण और महाभारत की कथा, पुराणों के प्रवचन, तान्त्रिक पूजा में निष्णात हों। जो आक्षेप अन्यधर्मी लोग हिन्दुओं पर करते हैं उनका समाधान करने में समर्थ हों। तृतीय, बाली की भाषा और उनके जीवन का अधिकाधिक ज्ञान उनको वहाँ जाने से पहले यहाँ रहते हुए प्राप्त कर लेना चाहिए। बाली की भाषा तीन प्रकार की है नीच, मध्य और उच्च। प्रचारक को स्वयं तो उच्च भाषा का प्रयोग करना उचित होगा। किन्तु नीच और मध्य भाषा का समझना भी आवश्यक है। प्रचारक को बाली-निवासियों में हिलमिल जाना चाहिए। यदि वह पत्थर की मूर्तियाँ नहीं बना सकता, विद्याधरी और अर्जुन के नृत्य और अभिनय करने में असमर्थ है, तो वह बाली का नेता अथवा उपदेष्टा भला कैसे बन सकता है। चतुर्थ, बाली में स्त्रियों और पुरुषों का जीवन स्वतन्त्र है। इसलिए वहाँ जाकर भारतीय का सदाचारी रहना यहाँ की अपेक्षा भी अधिक वांछनीय है। जो विचार मैंने यहाँ लिखे हैं वे बाली के निवासियों की याचनाओं और प्रार्थनाओं को ध्यान में रखकर लिखे हैं। किन्तु प्रचारक भेजने में राजनैतिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी।

देन्पासार नगर में एक भारतीय समिति है। इसके सदस्य मुसलमान हैं। इन्होंने पं. जवाहरलाल जी का सत्कार किया था, किन्तु पाकिस्तान के प्रतिनिधियों का भी ये लोग खुले और छुपे दोनों रूपों से स्वागत और सहायता करते हैं। यह भी कहा जाता है कि कई ने दो-दो पासपोर्ट रखे हुए हैं एक भारत का, दूसरा पाकिस्तान का।

सिंहराज

सिंहराज में माया नाम का सिनेमा है और पाठशाला का नाम भक्तियश है। 'उद्यान ज्ञान भुवन' नामक सार्वजनिक पुस्कालय है। एक गली का नाम गिरिपुत्री है। यहाँ की अन्वेषण संस्था का नाम ग्दुङ् कीर्त्या है। कीर्त्या के द्वार के दोनों ओर चित्र बने हैं।

दाई ओर हस्ति-आरूढ व्याध ने धनुष खींचकर बाण चलाया, बाई ओर यह बाण शत्रु को लगा और वह कालधर्म को प्राप्त हुआ। इन चित्रों का क्या अर्थ है, अनुमान कीजिए। पूछने पर वायान् भद्र, जो कीर्त्या के अध्यक्ष हैं, ने बताया कि पुरुष हस्ति बाण और मृत्यु का अर्थ क्रमशः 1, 8, 5 और 0 है। पुरुष 1 है, दिग्गज 8, बाण 5 और निर्वाण 0 है। यह शक संकाल अर्थात् शकसंवत् की तिथि है। कीर्त्या में पूजा नाम्नी महिला लोन्तारों का अध्ययन कर रही थी। लोन्तार का अर्थ है ताड़पत्र। लोन् शब्द पत्र-वाची और तार संस्कृत ताड़ का रूपान्तर है। पूजा महिला से मैंने प्रश्न किया तो उत्तर मिला कि हाँ मेरे प्रयास का उद्देश्य लोन्तार पढ़ना तथा उनके शुद्ध मूलरूप संस्कृत को जानना है। संस्कृत केवल भारत का ही प्राण नहीं किन्तु बाली का भी प्राण है।

बाली में लड़कियों के सामान्य नाम शिखरिणी, मालती, रतिः, शशी, लक्ष्मी आदि हैं।

भित्ति पर एक चित्र था। राक्षस विमान और उस पर सवार दशग्रीव रावण। वाहन अथवा विमान को यहाँ की भाषा में विल्मान कहते हैं। कीर्त्या में ही शूलावेशी (Celebes) द्वीप में सावेरी गादिङ् महाविद्यालय के मकस्सर-निवासी मगसिङ सज्जन से भेंट हुई। ये महाविद्यालय के अध्यक्ष हैं और भारत और बाली की संस्कृति के परिचय के लिए यत्नशील हैं। इनका नाम मगसिङ संस्कृत महासिंह का अपभ्रंश है।

कीर्त्या गडुङ् में हस्तलिपियाँ

कीर्त्या के वृद्ध पण्डित वायान् मेन्द्र (अर्थात् महेन्द्र) ने अपने मधुर कम्पस्वर में जयद्रथ मृत्यु और करण के विरुद्ध लड़ने के लिए घटोत्कच के प्रति कृष्णोपदेश के सात वृत्त सुनाए। पहला वृत्त स्रग्धरा, दूसरा शादूर्ल, तीसरा अश्वललिता, चौथा गिरीशा, पाँचवाँ शिखरिणी, छठा पृथ्वीतल और सातवाँ वसन्ततिलका। इन वृत्तों की भाषा संस्कृत-मिश्रित है। उदाहरणार्थ :

महामुख सङ् द्विजेन्द्र कृप शल्य कर्ण शल्य गुरुपुत्र कुरुकुल

कृष्ण शब्द का उच्चारण क्रस्न, ज्ञान का उच्चारण दून्यान, एक ओर उत्तर प्रदेश और दूसरी ओर महाराष्ट्र का स्मरण दिलाता है।

कीर्त्या में सहस्रों प्राचीन ग्रन्थ हैं जो ताड़पत्र पर लोहे के सूए से लिखे हुए हैं। कमीरी नाम के फल को जलाकर उसके कोयले में नारियल का तेल मिलाकर सूए से खुदे हुए शब्दों में भर देते हैं। केवल शब्द ही नहीं चित्र भी इसी प्रकार बनाए जाते हैं। बाली भाषा में कमीरी का नाम टिंकिः है।

सिंहराज का समुद्रपत्तन बुलेलेङ् में है। यह राजा आनक् आगुङ् न्योमान् पंजी तिष्ण के राज्य के अन्तर्गत है। राज्यप्रदेश को स्वप्रजा कहते हैं। समुद्रतट पर अद्भुत

अदृष्टपूर्व, नहीं-नहीं, अनुमानातीत तीन वरुण मन्दिर हैं। उत्तर भारत में कब किसी ने वरुण के मन्दिर की कल्पना की। इन मन्दिरों को पुरसगार अथवा बटार ब्रूण कहते हैं। बाली में पुर का अर्थ मन्दिर, पुरी का अर्थ प्रासाद, बटार का अर्थ भट्टार अथवा भगवान् और ब्रूण का अर्थ वरुण है। हम वरुण मन्दिर के सामने जाकर खड़े ही हुए थे कि तीन-चार नौकाएँ आती हुई दिखाई पड़ीं और मेरे मित्र वायान् भद्र ने बताया कि स्त्री-पुरुषों से भरी ये नौकाएँ अन्युत क्रिया से लौटकर आ रही हैं। अन्युत की व्याख्या पुष्पप्रवहण, समुद्रे पुष्पाणां मृत-दग्ध-पुरुषास्थानां निवापः। दाहक्रिया के पश्चात् बचे हुए छोटे हड्डी के टुकड़ों को बाली के लोग फूल कहते हैं।

पर्णकुटी विचोरोद्दीप्ति में सहायक

बुलेलेड् के स्वप्रजा में आठ पुंगव हैं। इसी स्वप्रजा अथवा राज्यप्रदेश में हम लोग राजा पंजी तिष्ण के दर्शनार्थ कालीबुकबुक ग्राम में गए। समय सायं का था। सामने सीधा समुद्रतट, पीछे अर्धचन्द्राकार पर्वतश्रेणी, पर्वतों से नीचे नारियल वृक्ष श्रेणी। नारियल से नीचे सुपारी वृक्षों की श्रेणी। उनसे नीचे केलों की श्रेणी और फिर लहलहाते हुए चावल के खेत। निरभ्र आकाश में संध्या-राग से सुशोभित यह प्रकृति का चित्रपट और इसके मध्य में राजा पंजी तिष्ण की घास की झोंपड़ी। विशाल महल को छोड़कर राजा तिष्ण इस परणकुटी में रहना विचोरोद्दीप्ति का सहायक मानते हैं। ये वायान् भद्र के मामा हैं। इस बात का ज्ञान मुझे स्वयं राजा तिष्ण ने कराया, वायान् भद्र ने नहीं। कुछ समय वार्तालाप करने के पश्चात् श्री तिष्ण बोले“आपके आने से मुझको विश्वास हो गया है कि इतिहास की पुनरावृत्ति हो सकती है। प्रत्येक जाति का बच्चा अपने पुण्य देश को जानता है। मुसलमान मक्का को और ईसाई जेरुसेलम को। केवल हम भूल गए हैं जम्बुद्वीप कहाँ है। यह हमको आज आबालवृद्ध जतलाना है।”

श्री तिष्ण भारत में एक-दो बार आ चुके हैं। अब फिर भारत में आने वाले हैं। और मेरे पास ही आकर कुछ दिन ठहरेंगे।

भारतयुद्ध के उपाख्यानो का अभिनय

रात्रि को एक और ग्राम में वाद्यों का दृश्य देखा। जावा, बाली आदि का संगीत अधिकांश पञ्चस्वरीय है। इनके यहाँ धातुमय घात-वाद्यों की प्रचुरता है। लगभग 30 व्यक्ति वाद्य बजाने वाले थे। 23 गड्सा, एक बोम्पोड्, एक बारंगन्, 2 कन्दाड, और 2 गोड्। दो व्यक्ति बाँसुरी बजाने वाले और सबके संचालक ग्दे मणिक गुरु। गुरु शब्द बड़े आदर का है। जावा में प्रोफेसर को महागुरु कहते हैं। संगीत का आरम्भ ललाम्बतन् से हुआ। यह संगीत मन्दगति है। एतत्पश्चात् कब्यार आरम्भ हुआ। इसमें सभी वाद्य एक साथ गम्भीर, उच्च ध्वनि से बजाए जाते हैं। धीरे-धीरे नृत्य और अभिनय आरम्भ हुए। पहला अभिनय राम का विभीषण को उपदेश था। दूसरा

अभिनय भारतयुद्ध नाम के ग्रन्थ से शल्य का युद्ध-गमन था। यद्यपि अभिनय बाली-निवासी कर रहे थे, किन्तु गीत पुरानी जावी भाषा के थे। आज से पाँच शताब्दी पूर्व जावा के ब्राह्मण, क्षत्रिय इस्लाम से अपनी रक्षा करने के लिए बाली की शरण में आए थे। पुराना जावी साहित्य तब से बाली में सुरक्षित है। तीसरा अभिनय राजा परिक्षित् के सम्बन्ध में था। यह दृश्य आदिपर्व से लिया गया था। एक और पौराणिक ग्रन्थ से पार्वती और दुर्गा के अभिनय दिखाए गए। पार्वती की विशेषता स्मयन है क्योंकि पार्वती दयामयी है। रुद्ररूपिणी दुर्गा की विशेषता अक्षिभ्रामण है। विद्याधरी अथवा अप्सराओं की पहचान उनके हाथ में पंखा जो उनके परों का द्योतक है।

नारियल कर्पर में नारियल का ही तेल डालकर चारों ओर दीपक जले थे। स्त्री, बच्चे, कुछ नंगे, कुछ वस्त्र पहनेस्त्रियाँ नाभि से ऊपर प्रायः दिगम्बर तथा पुरुष, युवा और वृद्ध संगीत की ध्वनि सुनकर मन्दिर के प्रांगण में भरते जा रहे थे। नारियल, कम्बोज और चम्पा के वृक्ष, दीपों के मद्धिम प्रकाश में लम्बायमान होते हुए निर्वात मण्डल में अद्भुत चित्ररूप खड़े थे। भारत से आए वेदगुरु का परिचय प्राप्त करके संगीत-गुरु ने साष्टांग प्रणाम किया और वाद्य अधिक उत्साह से बजने लगे। कहाँ पश्चिम-स्थित योरोप की यात्राजहाँ हम अर्धसभ्य (nigger) हैं और कहाँ पूर्व देशों की यात्रा जहाँ भारत पण्डित देव और गुरु के सम चरण-पूज्य और शिरोधार्य है।

घर में आकर बाली के नए रेजिडेन्ट विनार्णो दनु-आत्मज, जो मेरे साथ-साथ ही जावा से बाली आए थे, कहने लगे हम मुसलमान होते हुए भी सङ् ह्यङ् विधि अर्थात् भगवान् श्रीब्रह्म को पूजते हैं। यद्यपि आगम इस्लाम का देवता अल्ला है, विधि और ब्रह्म नहीं, तथापि विधि घरेलू शब्द है, सर्वव्यापक है, मधुर है, भावपूर्ण और हृदयंगम है।

एषा हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।

निद्रा देवी की शरण में बाली की दूसरी रात्रि के विश्राम का आरम्भ हुआ॥

‘गृहो’ में पूजा

12 अगस्त, 1952 को प्रातः 9 बजे सिंहराज के प्रसिद्ध पदण्डा न्योमान् ककरन् के ‘गृहो’ में प्रातः पूजा के अनुभवार्थ हम लोगों ने प्रवेश किया। इस घर में दो प्रांगण थे। पहला बड़ा, दूसरा छोटा। पहला प्रांगण निवासार्थ, दूसरा पूजार्थ। द्वार पर ‘कम्बोज’ पुष्प का वृक्ष शोभायमान था। कम्बोज पुष्प लगभग सारा ही वर्ष लगे रहते हैं। ये पुष्प पूजा में प्रयुक्त होते हैं। धूपपात्र, दीप, गन्ध, चन्दन, शिवाम्बु, कुश आदि सम्भार बहुत कुछ भारत के समान ही हैं। शिवाम्बु अर्थात् भगवान् शिव का जल त्रिपदी पर रखा होता है। दैनिक पूजा-पद्धति में वेदपरिक्रम, सप्ततीर्थ आदि नामक ग्रन्थों का पाठ करते हैं। प्रत्येक क्रिया के लिए अलग मन्त्र का उच्चारण होता है। मैंने पूजा के कुछ चित्र लेने चाहे तो श्रीमान् पदण्डा घबराए। उनको आश्वासन दिया गया

कि ये चित्र केवल कौतुक के लिए नहीं अपितु अगाध श्रद्धा और भक्ति के कारण ले रहा हूँ। मैं भी तो भारतीय पदण्डा हूँ। मेरे लिए कुश बिछाए। मैं आपके पुण्यसंचयार्थ गायत्री का पाठ करूँगा। पदण्डा ने कुश का आसन बिछाया, और वे और उनकी पत्नी ने परमादर से गायत्री-पाठ सुना। इनको विश्वास हुआ। अपने सब पात्र अन्दर से निकाल कर बाहर लाए। लकड़ी का मंच बाहर धूप में निकाला। सुवर्ण आभूषणों की पेटी बाहर आई और श्रीमान् पदण्डा ने एक-एक करके स्वर्णमुकुट, कर्णपुष्प, बाहुकंकण, अंगद आदि सभी आभूषण पहने। मन्द स्वर से आधा जप और आधा एकश्रुति मंत्रोच्चारण तथा तद्विनियुक्त पूजाक्रिया का क्रम चलने लगा। हाथ में घण्टा और फूल, सामने शिवाम्बु। मंत्रपूत होने के पश्चात् स्त्री और पुरुष “तोय” ले जाते हैं। इसको ‘गांग’ अर्थात् गंगाजल भी कहते हैं। हमारे बैठे-बैठे दो स्त्रियाँ पुष्प-फलादि लेकर आईं। इनके परिवार में बालक-मृत्यु हुई थी। इनको तीर्थ अर्थात् पवित्र जल की आवश्यकता थी। इसी के लिए पदण्डा के पास आज इनका आगमन हुआ। पदण्डा ने ‘न्यरुति’ स्वर से वेदपरिक्रम के तथा कुछ अन्य मंत्र सुनाए। ‘न्यरुति’ श्रुति शब्द का अपभ्रंश है। यवद्वीप और बालीद्वीप की भाषाओं का विचित्र नियम है कि श अथवा स कई शब्दों में न्य में परिणत हो जाता है।

शिवपदण्डा

प्राचीन नियमानुसार शिव-पदण्डा गृहकुक्कुट और ग्रामशूकर के माँस को अभक्ष्य मानते हैं। इनके लिए केवल हंस और वन्यशूकर का ही माँस भक्ष्य है।

शिवपदण्डा के अतिरिक्त बालीद्वीप में बुद्धपदण्डा भी विद्यमान हैं। ये केवल नाम में बौद्ध हैं, वास्तव में भैरव हैं। ये सर्वमाँसभक्षी हैं। उपवास भी ये लोग प्रायः नहीं रखते। शरीर से हृष्टपुष्ट होते हैं।

शिवपदण्डा ‘तीर्थगमन’ के लिए भारत आने को उद्यत हैं। प्रश्न केवल द्रव्य का है। निर्धनी होते हुए भी पदण्डा के ‘भूषण’ 5, 6 सहस्र रूपए के हैं। शिर के आभूषण को यह ‘मकुट’ कहते हैं, मुकुट नहीं। मकुट रूप प्राचीन है। इसी से हिन्दी का ‘मौड़’ बना है, मुकुट से नहीं। मुकुट से तो मूड़ रूप बनता।

कहीं-कहीं बालीनिवासियों में ऐसी भावना देखने में आई कि स्वतन्त्रता के पश्चात् अपने देश में भी हमारा स्थान प्रमुख नहीं। प्रत्येक ऊँचे पद पर जावा के मुसलमान नियुक्त हैं। और यद्यपि बाली के युवकों ने स्वतन्त्रता-संग्राम में घोर बलिदान दिए तब भी उनको कोई पूछ नहीं रहा। इस प्रकार की भावना केवल बालीद्वीप में ही नहीं कालिमन्थन (बोर्नियो) और शूलावेसी (Culebes) तथा सुमात्रा में भी विद्यमान है।

युवक संस्थाओं में काली टोपी पहनी जाती है। किन्तु बाली के हिन्दू युवकों ने इसको पहनने से नकार कर दिया।

शिल्पशाला में

मोटर बसों के नाम 'सम्पाती' और 'जटायु' रामायण से लिए गए हैं। आज दोपहर के समय श्री इ मादे कवि की शिल्पशाला में गए। इन्होंने चन्दन का बना हुआ पंखा प्रेमोपहार दिया। ये बाली-भाषा के कवि हैं। शिखरिणी आदि वृत्तों में सुन्दर काव्य करते हैं। आज जो कविता आपने सुनाई उसमें आने वाले इडा, पिंगला, सुषुम्ना पदों का अर्थ रसवाह, अन्नवाह, प्राणवाह है, इस पर दार्शनिक विचार करते रहे।

यहाँ से कीर्त्या में गए। वहाँ आठ हस्तलिखित ताड़पत्रों का उपहार मिला। पहला ग्रन्थ 'पावाचाकन' फलज्यौतिष पर। दूसरा औषध और वामाचार पर। तीसरा शरीरे भटारस्थानानि। चौथा वामाचारमन्त्राः। पाँचवाँ शीतलारोग ग्रन्थ। छठा 'तुआन सुमेरु'। सातवाँ भूणस्य चत्वारो भ्रातरः अर्थात् श्वेतरुधिर, रक्तरुधिर, जरायु और तद्गत जल। आठवाँ हरिवंश। भारत की आत्मा और शरीर बाली में सजीव विद्यमान हैं।

मूर्तिकला में बालीनिवासी आशातीत निपुण हैं। बिना देखे इनके नैपुण्य का अनुमान करना असम्भव है। मूर्तियाँ पत्थर की तथा सावो नाम की भारी लाल लकड़ी की बनाई जाती हैं। हलधर, वृषभारूढ शिवपार्वती, गणेश और अन्य सौन्दर्य की पराकाष्ठा रूप मूर्तियाँ श्री द मादे कवि की दुकान में दृष्टिगोचर हुईं। यद्यपि इनका मूल्य एक-एक सहस्र अथवा उससे भी अधिक था तथापि यह उनकी कला का मूल्य नहीं। केवल लकड़ी और परिश्रम का मूल्य है। कला तो अमूल्य है। जयपुर और मदुरा के मूर्तिकार बाली-कलाकारों के सामने दीन-हीन हैं। भारत की प्राचीन कला के उद्धार के लिए बालीद्वीपीय चित्रकारों को भारत में बुलाना चाहिए।

बाली में तीन भाषाएँ हैं। 'कासा' अथवा उच्च-भाषा, मादे अथवा मध्य-भाषा, 'हालुस्' अथवा सामान्य भाषा। सामान्य दैनिक जीवन की क्रियाओं के लिए तीनों भाषाओं में अलग-अलग शब्द हैं। प्रत्येक व्यक्ति तीनों भाषाएँ जानता है। अपने से ऊँचे के साथ मध्यभाषा में, तथा अपने से हीन के साथ सामान्य भाषा में वार्तालाप की जाती है। यह विशेषता जावा की भाषा में भी है। नए व्यक्ति को मिलने पर पहला प्रश्न होता है आपका आसन अर्थात् वर्ण। दूसरा प्रश्न आपकी संख्या। संख्या का उत्तर ज्येष्ठ, मध्य, तृतीय अथवा चतुर्थ। ज्येष्ठ के लिए 'क्लीबा', मध्य के लिए 'मादे', तृतीय के लिए 'न्योमान्' और चतुर्थ के लिए 'क्तूत्'। 'इ' पुरुषों के और 'नि' स्त्रियों के नाम में प्रयुक्त होता है। 'इडा' और 'बागुस्' ब्राह्मणों के नाम में आता है।

पुजारी यदि ब्राह्मण हो तो 'पदण्डा', क्षत्रिय अथवा वैश्य हो तो ऋषि, और शूद्र हो तो 'पामांकु' कहलाता।

आज सायंकाल 30) की गजदन्तमूर्ति ली। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। दोनों ओर दो विद्याधरियाँ विध्नार्थ आई हैं। सिंहराज में एक मित्र के घर गए। उन्होंने बताया कि घर बनाने के लिए उनको भूमि निर्मूल्य मिली है। भूमि की

लम्बाई 130 फुट और चौड़ाई 25 फुट है। ये सज्जन सिंहराज के निवासी हैं। सभी ग्राम अथवा नगर निवासियों को भूमि निर्मूल्य मिलती है। हाँ यदि कोई ईसाई अथवा मुसलमान बन जाए तो उसे भूमि छोड़नी पड़ती है। प्रत्येक ग्राम अथवा नगर निवासी को प्रतिवर्ष चैत्रामावस्या जो शक वर्ष का अन्तिम दिन है, तथा प्रतिपदा वैशाख जो नववर्ष का आरम्भ है, को मन्दिरों के संधारण के लिए लगभग 3, 4 रुपए देने पड़ते हैं।

शिष्य ('तीर्थ' अथवा पुण्योदक लेने वाले) अपने 'सूर्य' (गुरु अथवा पदण्डा) के लिए 'गृह' निर्माणार्थ सामग्री लाते हैं। इतना ही नहीं निर्माण में भी सहायता करते हैं।

प्राचीन अवशेषों का संरक्षण

बालीद्वीप की यात्रा करने में श्री क्राइग्जमान् (Krijgsmann) ने बड़ी सहायता की। तीन दिन तक लगातार आप मुझे अपनी मोटर में घुमाते रहे। आप प्राचीन अवशेषों के संरक्षण तथा जीर्णोद्धार के अधिकारी हैं। आपके मणिवन्ध पर एक कड़ा है जिस पर बालील्लिपि में लिखा 'सुरो कुसल'। यह संस्कृत 'शूर कुशल' है। यह आपको उपाधि के रूप में दिया गया है। जिस प्रेम और बुद्धि धैर्य और कौशल से आपने प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों का जीर्णोद्धार किया है उसके लिए बाली के लोग आपके अनुगृहीत हैं। और सम्भवतः उससे भी अधिक हमको अनुगृहीत होना चाहिए। बातुआन्, सुखवती, केशिमान्, ग्यान्यार, क्लुङ्कुङ्, कारांगासम् आदि अनेक स्थानों का भ्रमण, दर्शन आपने कराया। बातुआन् और सुखवती कलाकारों के लिए प्रसिद्ध हैं।

'तीर्थगंगा' अद्भुत स्थान है। शुद्ध स्वच्छ नीले जल का एक बड़ा सा तालाब है। इसका द्वार चण्डी बन्तार है। द्वारपाल दो सिंह हैं। तालाब के दाईं ओर पाषाणमूर्तियों की पंक्ति। इसी के पास से पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी निकले थे। मेरे साथी ने बताया कि पण्डित जी पास से निकल गए किन्तु तीर्थगंगा के दर्शनार्थ न ठहरे। इससे जनता को निराशा और खेद हुआ। भारत की पुण्यतमा सरिता शिवजटावाहिनी समुद्रगामिनी पापहारिणी गंगा का यह अमूल्य प्रतीक है।

सुख-दुःख अर्थात् अन्त्येष्टि संस्कार

बालीद्वीप का महत्तम संस्कार अन्त्येष्टि कर्म है। इसको 'संस्कार', 'कार्य' अथवा 'सुख-दुःख' के नाम से पुकारते हैं। ग्राम का नाम तिष्ठ और संस्कार करने वाले सज्जन का नाम इ न्योमान् ओका। आप शूद्र हैं। आपकी पत्नी रादेन् आयु सीती श्रियन्ती। ये जावा के सुल्तान परिवार की राजकुमारी हैं। प्रायश्चित्त तथा नवनामकरण से आपकी शुद्धि करके ओका महोदय ने आपसे विवाह किया था। आपके पाँच बच्चे हैं। एक का नाम वर्धन, दूसरे का श्लोकपूजावीर्य, तीसरे का मर्दी कुसुम। आपकी पितामही की मृत्यु 1943 ई. में और पिता की 1947 ई. में हो चुकी थी। पहले

जापानियों के कारण संस्कार न हो सका और उसके पश्चात् स्वतन्त्रता संग्राम के कारण विधिपूर्वक संस्कार करना सम्भव न था। अब 1951 में आप पिता अथवा पितामही दोनों का संस्कार कर रहे हैं। मृतशरीर तो मृत्यु के कुछ सप्ताह पश्चात् ही भस्मसात् कर दिए गए थे, किन्तु उस समय मन्त्रोच्चारण आदि संस्कार नहीं किया गया था। बालीद्वीप में संयुक्त पारिवारिक जीवन है। पिछले बहुत से वर्षों में ओका-परिवार में 23 जनों की मृत्यु हो चुकी है। आज 'कुलवर्ग' के मृतशरीर-भस्म का अन्त्येष्टि संस्कार होना है। घर के लोगों को कुलवर्ग कहते हैं।

पितृमन्दिर में चार आसन बने थे चारों आसन शून्य। गुनुड् आगुड् जो दस सहस्र फुट ऊँचा बाली का महत्तम पर्वत है उसकी छाया में बाजे बज रहे थे। अन्त्येष्टि केवल दुःख का अवसर नहीं, अपितु सुख और दुःख दोनों का है। आज मृत सम्बन्धियों की आत्माएँ 'इन्द्रलोक' में प्रवेश करेंगी यह सुख का कारण है। वियोग दुःख का हेतु है। किन्तु वियोग की चण्डता बहुत वर्ष व्यतीत होने के कारण सर्वथा मन्द हो चुकी है। शव को ले जाने के लिए 40, 50 फुट ऊँचा हरे बाँस का "वाड़ा" बनाया जाता है। त्रिवर्ण के लिए बाड़े के ऊपर 5, 7 अथवा 9 मेरु नामक छतें बनाई जाती हैं। बाँस पर कागज, कपड़े पत्तों से अपूर्व सजावट की जाती है। सामने की ओर महाकाल की रक्तवर्ण 10, 15 फुट लम्बी भयंकर जिह्वा बनी होती है। वाड़े को उठाने के लिए डेढ़ सौ से अढ़ाई सौ तक पुरुषों की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति अपने ही ग्राम के होते हैं। बाहर के ग्राम के लोग तो केवल दर्शक बनकर आते हैं। बच्चे और स्त्रियाँ, युवा और बूढ़े, सहस्रों की संख्या में इकट्ठे होते हैं। वाड़ा के आगे 'लम्बू' होता है। श्मशानभूमि में शव को वाड़े से उतारकर लम्बू में रखते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियों के लिए लम्बू वैतरणी गाय का प्रतिरूप है। शूद्रों के लिए 'गजमीन' और वैश्यों के लिए 'सिंह'। मछली के तुण्ड को हाथी की सूंड का रूप देकर परम शोभायमान और विचित्र गजमीन बनाते हैं।

जगमीन अथवा सिंह के अतिरिक्त लम्बू की एक और रचना भी होती है। इसको 'हंस' कहते हैं। दाह-संस्कार समाप्त होने के पश्चात् अवशिष्ट भस्म को हंस में रखकर ले जाते हैं।

वाड़ा के पीछे 25, 30 फुट ऊँची सीढ़ी होती है। इसको उठाने के लिए 30, 40 व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। एक मास की सज्जा के पश्चात् आज वाड़ा श्मशान-भूमि ले जाया जा रहा है। 20, 25 सहस्र रुपया व्यय हुआ है। वर्षों तक ग्रामनिवासी स्मरण रखेंगे कि ओका महोदय ने अपने पितरों के लिए इतना वैभवशाली संस्कार किया।

पहले 160 व्यक्तियों ने वाड़ा उठाने का यत्न किया, किन्तु भार संभल न सका। दो घण्टे का विलम्ब हुआ। 100 के लगभग और अधिक युवक बुलाए गए। जो यात्रा

5 बजे आरम्भ होनी थी वह 7 बजे आरम्भ हुई। सूर्यास्त हो चुका था और रंगीन चित्र खींचने का मेरा संभार अब काम न आ सकता था। अढ़ाई सौ व्यक्तियों ने वाड़ा उठाया। 23 शवों की भस्म के अतिरिक्त ओका और उनके दो पुत्र वाड़े पर आरूढ़ हुए। झूमता-झामता वाड़ा धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। उठाने वाले वाड़े को कभी एक ओर झुकाते थे कभी दूसरी ओर। ऐसा दिखता था कि श्री ओका और उनके पुत्र अभी नीचे गिरेंगे। रात के 9 बजे एक मील की दूरी पर स्थित श्मशानभूमि पर पहुँचे। हंस, गजमीन और सीढ़ी बहुत पहले ही पहुँच चुके थे। वाड़ा से उतारकर मृत शरीरों के भस्म को गजमीन में रखा गया। पदण्डा-बुद्ध ने मन्त्रपाठ किया। शिव आत्मा...स्वर...दिव्य चक्षु...पद्मे नाम नाम अघोर अघोर...महावीर्यम् इत्यादि शब्द बीच बीच में समझ में आते थे।

आधुनिक विचारों से प्रभावित होकर अन्त्येष्टि संस्कार को सस्ता करने का यत्न किया जा रहा है किन्तु इससे बाली के जीवन के वैभव की समाप्ति हो जाएगी।

सामान्य घर में

आइए अब एक सामान्य घर में चलें। पहले द्वार और घर के चारों ओर भित्ति। द्वार से घुसकर बाह्य प्रांगण में पदार्पण कीजिए इस प्रांगण में शालि-संग्रह, शूकर-गृह और गो-गृह। इनके साथ-साथ 'अगूरः' अर्थात् रक्षामन्दिर। इस प्रांगण से आगे मध्य प्रांगण। इसमें रसोई, सोने का घर, अतिथि-गृह और शव-स्थान। मृत्यु के पश्चात् शव कई सप्ताह तक घर में रखा जाता है। प्रातः ही घर के लोग शव-स्थान में आकर नमस्कार और पूजा करते हैं। मध्य प्रांगण से आगे चलकर अभ्यन्तर प्रांगण में घर का पुण्यतम स्थान है। इसमें पितृ मन्दिर बना रहता है।

जिस प्रकार घर के तीन प्रांगण, उसी प्रकार मन्दिरों में भी। संस्कारों के समय मोतियों को धागे में पिरोकर द्वारों पर लटकाया जाता है। पाश्चात्य जातियों ने इन्हीं से मोतियों के पर्दे बनाने सीखे हैं। घरों में स्थानीय देवता शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि की मूर्तियाँ होती हैं। गृहदेवता अथवा कुलदेवता पारिवारिक जीवन का केन्द्र है।

क्या हस्तिना, गंगा विद्यमान हैं?

14 अगस्त को कारांगासम् के बूढ़े राजा से भेंट हुई। आपका षट्पदयुक्त मधुर नाम आनाक् आगुङ् आगुङ् आडल्लोरा क्तूत् जलान्तिक है। आपने जम्बुद्वीप के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किए। क्या हस्तिना (हस्तिनापुर), गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी आज भी विद्यमान हैं? क्या आपने इनके दर्शन किए हैं? क्या मैं भी इनके दर्शन करके अपनी आत्मा की चरम तृप्ति कर सकता हूँ? अयोध्या में अब क्या कुछ शेष है? क्या भारत और लंका के बीच में श्रीराम के बनाए पुल पर अभी तक जा सकते हैं? इत्यादि। फिर आपने पूछा कि क्या जम्बुद्वीप में अभी तक शुक्लब्रह्मचारी,

शबलब्रह्मचारी और कृष्णब्रह्मचारी विद्यमान हैं? शुक्लब्रह्मचारी का अर्थ नैष्ठिक ब्रह्मचारी है।

15 अगस्त को राजा ग्यान्यार् से तथा बालीद्वीप की संसद् के अध्यक्ष श्री अमृत से भेंट हुई। मध्याह्न में जावातन् पूर्वकाल अथवा पुरावशेष विभाग के अधिकारी क्राइजमान् के साथ चिंगीनी मन्दिर में आए। यह मन्दिर साकर् ग्राम में स्थित है। यहाँ 993, 1069, 1098 तथा 1146-50 के संस्कृत ताम्र-शासन मिले हैं। जीप की थकावट, अपर्याप्त तथा अरुचिकर भोजन की खिन्नता इन लेखों को देखकर उड़ गई।

गुहा-गजः

गुहा-गजः (अथवा भारतीय क्रमानुसार गज-गुहा) अविस्मरणीय स्थल है। सड़क पर जीप छोड़ नीचे उतरकर गुहा में गणेश और लिंग तथा शयनार्थ चार अशमशय्या मन पर अलौकिक प्रभाव डालते हैं। भक्तों और तपस्वियों की आध्यात्मिक साधना और निवास का यह पुण्यतम स्थान रहा है। यहाँ से चलकर गुनुङ् कवि अर्थात् कवियों के पर्वत की ओर क्राइजमान और हम बढ़े। घने वृक्षों के मण्डपों में से निकलते हुए, एक घाटी से दूसरी घाटी में उतरते हुए, संकीर्ण पहाड़ी मार्ग से नदी के तट पर पहुँचे। स्थल वास्तव में कवियोग्य है। चारों ओर शालि के खेत। एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा। कोई भी पर्वत का चप्पा खेती से रिक्त नहीं। बाँस के पुल पर से नदी के पार जाकर महाराज एर्लिंग के छोटे भाई आनाक् वुड्सू और उनके परिवार की 5 समाधियाँ पर्वत की भित्ति में खोदकर बनाई गई हैं। समाधियाँ त्रिभूमिक हैं। इनका काल 1049 से 1077 कहा जाता है। समीप ही भिक्षुओं तथा शिष्यों के निवासार्थ पर्वत में से काटकर घर बनाए गए हैं। केवल वातायन ही नहीं काशासन भी। आँगन के लिए पर्वत को सर्वथा ही काट दिया गया है। चारों ओर गुहाएँ बनी हैं। इनकी संख्या 80 से अधिक है। गुनुङ् कवि से निकलकर ताम्पाक् सीरिङ् तथा तीर्थ-अम्पूल को प्रस्थान किया। तीर्थ-अम्पूल में रजस्वला स्त्रियों के लिए स्नान का प्रबन्ध अलग है। तीर्थ-अम्पूल से क्लबूतान् आए। यहाँ 60, 70 फुट लम्बी सुरंग है। उसके आगे ताती आपी ग्राम में एक क्षत्रिय के घर का निरीक्षण किया। इनकी दो पत्नियाँ हैं। इनके गृह-मन्दिर में बड़ी सुन्दर शिव, विष्णु, ब्रह्मा की मूर्तियाँ हैं। घर की रक्षा के लिए स्तम्भ हैं।

नृत्य संगीत आदि के लिए तथा ग्राम सभाओं के लिए प्रत्येक गाँव में 'बाले बाजार' होता है।

ग्रामों में चतुष्पथ पर पुष्प, चावल, केले के पत्तों को काटकर भूतों की आकृति, नारियल के कर्पर में आग और धूम। सायं 5.30 बजे 'पूसर् इङ् जगत्' अर्थात् जगन्नाभि के दर्शन किए। यह 10वीं शताब्दी का स्थल है। यहाँ पर नाभिऊर्ध्व दिगम्बर स्त्रियाँ ऊखल में मूसलों से धान कूट रही थीं। हमने चित्र लेना चाहा। राजा

ग्यान्यारू के सचिव ने प्रार्थना की कि हम इनका चित्र न लें। डच राज्य में प्रायः सभी बाली की स्त्रियाँ नाभि से ऊपर अनावृत रहती थीं। केवल स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष भी। बाली होटल में तो इस प्रकार आधी नग्न और आधी वस्त्राच्छादित परिवेशिकाएँ विदेशी यात्रियों के आकर्षण का साधन थीं।

पनातारन् सासे में एक विचित्र काँसे का घण्टा देखने में आया। यह ढोल के समान बना हुआ है। पर कहते इसको घण्टा ही हैं। इसका व्यास 8 फुट के लगभग है। पहले तो पामांकु अथवा पुजारी ने मुझे ऊपर चढ़ने से रोका। किन्तु जब क्राइजमान् ने समझाया कि मैं जम्बुद्वीप का आचार्य हूँ तो उसने सहर्ष मुझे पचासन पर चढ़ने में सहायता की। यह पचासन 10, 12 फुट ऊँचा होगा। पामांकु ने बतलाया कि अञ्जलि 5 प्रकार की होती है। 'शिवद्वार' अथवा मस्तक पर देवताओं के लिए, नासिका पर पितृवर्ग के लिए, छाती पर जीवित माता-पिता के लिए, नाभि पर शव के लिए, और मुष्टिबद्धाञ्जलि सामान्य व्यक्तियों के लिए।

महाभारत के नृत्य

16 अगस्त को देन्पासार में इ गुस्ति बागुस् सुग्रीव, जो यहाँ के शिक्षामन्त्री हैं, के दर्शन के पश्चात् बाजार में निकले। दुकानों के नाम अर्थबाली, प्रसाद, धर्म, आदि से नेत्र विस्फारित और तृप्त हुए। आगे फल-फूलों की दुकान पर चले तो चम्पक सीता का फूल, कम्बोज पुष्प पूजा के लिए, तुंजुङ् अथवा नीलोत्पल शिवजी का फूल, चन्दनचूर्ण धूप के लिए, पूजा के लिए दालिया (दाडिम अथवा अनार)। यहाँ कुछ भारत के मुसलमानों की दुकानें देखने में आईं। मुहम्मद अब्दुल गफूर ने बड़े आदर से पानी पिलाया। ये भारतीय मुसलमान अरबों की बस्ती में रहते हैं। बाली में भारतीय मुसलमान अपने लिए अरब शब्द का प्रयोग करते हैं। पहले भारत-सभा का प्रधान भी अरब था। देन्पासार में भारतीय मुसलमानों की 25, 30 दुकानें हैं। इनमें से कुछ दक्षिण के और कुछ उज्जैन, इन्दौर आदि के हैं। इन्दौर के एक मुसलमान के बहुत आग्रह करने पर रात्रि को भोजन उनके यहाँ ही दस्तरखान पर टीन के बड़े थाल में जीवन में पहली बार किया। भोजन के अनन्तर रात के 9 बजे के लगभग जांगेर नाच देखा। सुवर्ण-मुकुटों की अदृष्टपूर्व शोभा ने सारे मण्डप को जगमगा दिया। इसमें 11 कन्याएँ और 12 लड़के थे। यह नाच 'जांगेर सख्य' ने किया था। सख्य शब्द का अर्थ क्लब है। लड़के-लड़कियों ने लांग वाली धोती पहनी थी। लड़कियाँ आमने-सामने दो पंक्तियाँ बनाकर घुटने टेककर बैठ गईं। इसी प्रकार से लड़के। चारों पंक्तियों का एक वर्ग बन गया। इस वर्ग के मध्य में अर्जुनपति: के प्रथम मंत्री कन्याओं और युवकों के नृत्य और गान का नियन्त्रण करते रहे।

कुछ समय के पश्चात् पाण्डववीर अर्जुनपति: नृत्यवर्ग के मध्य में समाधि में मग्न हो जाते हैं। अर्जुनपति: का उद्देश्य देवताओं से ऐसे अस्त्र की प्राप्ति है जिससे

निवातकवच राक्षस का विध्वंस किया जा सके। निवातकवच ने महान् उत्पात मचाया हुआ है। देवता अर्जुन की धीरता की परीक्षा के लिए दो सुन्दरतम अप्सराओं को भेजते हैं। अप्सराएँ अर्जुन के बाहु को उठाकर हाव-भाव पूर्वक अपने कन्धों और गलों पर रखती हैं, किन्तु समाधि में विध्न नहीं होता। समय बीतने पर साक्षात् निवातकवच उपस्थित होते हैं। युद्ध में विजय होते न देख वे भीमकाय पक्षिराज को भेजते हैं, जिनको अर्जुन शीघ्र ही बाण बंधकर यमलोक पहुँचा देते हैं।

इस अभिनय के दर्शक संसार के नाना दिग्दिगन्तर देशों से आए हुए कोटिपति, विद्वद्वर तथा राजनीति-विशारद यात्री थे जो बाली के सौन्दर्य तथा वैचित्र्य के जादू का अनुभव करने के लिए आए थे। उनके औत्सुक्य की पूर्ति आशा से कहीं बढ़कर हुई, और अपनी यात्रा को उन्होंने सफल माना।

हिन्दी-उर्दू एकीकरण का सवाल

विजय देव नारायण साही*
अनुवादक : श्रीमती कंचनलाल साही

जिन्दगी मूर्ख द्वारा सुनाई गई एक कथा है जो गुस्से और शोर-शराबे से भरपूर है लेकिन जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता।

शेक्सपियर

हिन्दू उर्दू गाथा में, जिसने इस अर्द्धशताब्दी की सबसे अधिक आवेशपूर्ण बहसों को जन्म दिया गुस्से और शोर शराबे से भरपूर कथाएँ सुनाई गईं जिनका कभी तो मतलब निकलता है, कभी नहीं निकलता।

जो हल पेश किए गए वे साम्प्रदायिक फूट और मैत्री, प्रशासकीय सुविधा, कोश के भारी-भरकम शब्दों की नुमाइश, पाठ्यपुस्तक प्रकाशन आदि को नजर में रखते हुए दिए गए। यह करीब-करीब हमेशा माना गया है कि हिन्दी भाषा उर्दू या हिन्दुस्तानी के साहित्यिक लेखक को अपनी शब्दयोजना अपनी कला के अन्दरूनी तर्क से नहीं बल्कि बाह्य प्रेरकों जैसे सम्प्रदायवाद, प्रतिसम्प्रदायवाद और सर्व-सम्प्रदायवाद से प्रेरित होकर चुननी चाहिए।

स्वतन्त्रता के बाद के किसी नए लेखक को यह बातअगर बहुत बेजोर शब्द का भी इस्तेमाल करें तो आश्चर्यजनक लगती है। आज ऐसे हिमायतियों की कमी नहीं है, जो कि लेखक की शब्दयोजना को उसके 'उद्देश्य' के प्रति वफादारी की कसौटी मानते हैं 'उद्देश्य' से वे जो भी मतलब लगाते हैं। हिन्दी उर्दू वाद-विवाद को लेकर जो आग-बगूला शोर-शराबा हुआ उसमें से अधिकांश बेमानी लगता है। शायद हम भिन्न परिस्थितियों में होने के कारण पूर्वगामी युग को समझ नहीं पाते। शायद पिछले युद्ध और स्वाधीनता के तथ्य ने हमारी संवेदनाओं के बीच खाई पैदा कर दी है।

* प्रो. विजय देव नारायण साही का दो दशक पूर्व अंग्रेजी में लिखा एक विचारोत्तेजक लेख का हिन्दी अनुवाद; हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मुखमंत्र भाग 22, अंक 2, प्रयाग (1996) से सामार।
अनुवादक : श्रीमती कंचनलाल साही।

सचेतन-विकृतीकरण

इस विवाद में सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और इसलिए सबसे बेतुकी बात जो हुई वह यह थी कि हिन्दी उर्दू तथा हिन्दू और मुसलमान में तादात्म्य मान लिया गया। उन लोगों ने भी जिन्होंने सद्भाव के कारण खिचड़ी हिन्दुस्तानी बनाई, अप्रत्यक्षतः इस तादात्म्य को स्वीकार किया और स्थिति को बचाने की कोशिश में यह अनर्गल चमत्कार पैदा किया। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि संस्कृत, फारसी-अरबी और भारी-भरकम तथा अनर्गल शब्दावली से साहित्यिक पद-विन्यास का जान-बूझकर विकृतीकरण हुआ और इस तरह से साहित्यिक अभिव्यक्ति को झूठा बनाया गया। ध्रुव तत्त्वों का एक भीषण युद्ध चालू हुआ जिसमें सांख्यकीय आँकड़ों के अस्त्रों से एक-दूसरे पर प्रचण्ड प्रहार किए गए, एक भाषा या दूसरी के साम्राज्य के लिए 'क्षेत्र' जीते गए और अन्ततः दूसरे को राष्ट्रीय पीठिका पर से उतार देना ही परम पवित्र 'उद्देश्य' घोषित किया गया। इस सबके दौरान लेखक को कायल करके बहकाकर या धमका कर यह विश्वास करने को मजबूर किया गया कि वह उद्देश्य के प्रति समर्पित होकर कार्य कर रहा है चाहे हिन्दी के चाहे-उर्दू के।

अतः यह आवश्यक हो जाता है कि इस विनम्र तथ्य की पुनः घोषणा की जाए कि किसी और की अपेक्षा वे साहित्य के दिग्गज ही होते हैं जो भाषा की बानगी को बनाते हैं न कि इसके उल्टा। और हिन्दी उर्दू अन्तिम विवेचना में दो ऐसी बानगियों के सिवाय है क्या?

साहित्यिक दायित्व

अतः हम निर्द्वन्द्व रूप से इस मान्यता को लेकर शुरू कर सकते हैं, कि हिन्दी उर्दू के समीपीकरण का दायित्व अन्ततः साहित्यिक लेखक को ही पूरा करना पड़ेगा। इसकी वांछनीयता पर बहस की शायद ही जरूरत हो। यह विभाजन और उस पर दिया गया बल दोनों अधिकांशतः कृत्रिम हैं जो परिवर्तन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों से उसका वजूद या और अब बदली परिस्थितियों में उसके वजूद का कारण समाप्त हो गया है अतः इन दो विधाओं का एकीकरण हो जाना चाहिए। ऐसे लोग होंगे जो कहें कि हिन्दी और उर्दू के लेखकों को अभी भी अलग-अलग लिखते जाना चाहिए। हमारी संस्कृति के प्रवक्ता को दो भागों में विभाजित करने के अलावा यह विश्वास और कोई मकसद पूरा नहीं करता। वह हमारे साहित्यिक विन्यास को संकुचित करता है हमारी उपलब्धियों को क्षीण कर देता है और हमारे युग-बोध को सीमित कर देता है और छद्म लेखकों तथा तुक्कड़ों को उछालकर शेक्सपियर होमर और वेदव्यास को लज्जित करता है। भाषायी प्रान्तीयता की इस लड़ाई से साहित्य के आलोचनात्मक और रचनात्मक दोनों तरह के मानदण्ड सबसे पहले धराशायी हुए। आदमी को जाज्जुब होता है जब ऐसे समर्थक और प्रस्तुतिकर्ता मिलते हैं जो वैसे तो

खासे समझदार होते हैं लेकिन आग-बबूला हो जाएँ अगर कामायनी को इस शताब्दी में संसार की महानतम गाथा (ऐपिक) से कम करार दिया गया और दूसरे काव्यकर्मी आकाश चीर डालें अगर उस किताब को रद्दी की टोकरी को छोड़ कोई जगह देने की बात भी की। उसी तरह से गालिब या निराला से असहमत होना सम्भव नहीं है। बिना विश्वासघात या प्रतिष्ठाद्रोह का लांछन लगे हुए हिन्दी और उर्दू के लेखक अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं की रचनाएँ भी पढ़ते हैं लेकिन ऐसे लेखक या आलोचक का मिलना जो हिन्दी और उर्दू दोनों से साहित्य द्वारा वाकिफ हैं एक अभूतपूर्व चमत्कार ही है।

एक भाषा

अब हम सन्दर्भ पर विचार करें। यह प्रचलित स्थापना है कि हिन्दी और उर्दू आखिरी विश्लेषण में एक ही भाषा है। दोनों पक्षों के बड़े-से-बड़े अलगाववादी नेता भी इसे स्वीकार करते हैं यद्यपि वे भिन्न मार्गों से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं लेकिन क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है, कि किसी ने भी तर्कानुसार इस अगले निष्कर्ष का सामना करने की कोशिश नहीं की है कि इसलिए ही अलग-अलग साहित्य के इतिहास नहीं हो सकते। हिन्दी उर्दू का एक सम्मिलित इतिहास जिसमें दोनों भाषाओं के दिग्गज हों इन सब कलहबाजियों का समुचित उत्तर होगा।

निस्सन्देह हिन्दी उर्दू में कुछ फर्क तो है ही। लेकिन यह फर्क हिन्दी और गुजराती या हिन्दी और बंगाली का जैसा नहीं है यह दिखाने के लिए कोई बहुत जटिल भाषाशास्त्री कवायद की जरूरत नहीं पड़ेगी। यह अन्तर अपेक्षाकृत बहुत कम है : मुख्यतः यह फर्क विन्यास तक सीमित है और कुछ गलत परम्परा का बोध भी है। एक बार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं तो यह बहस कि कौन महज दूसरे की एक 'बानगी' है हमारे विवाद के सन्दर्भ में निरर्थक हो जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरी साहित्यिक परम्परा का सही परिप्रेक्ष्य और भाषा-विन्यास का अपना सौन्दर्यशास्त्रीय तर्क समझ लेने पर हिन्दी और उर्दू को समीप लाना सिर्फ वांछनीय ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी लगता है।

द्विभाजन खत्म होना चाहिए

जब मैं यह कहता हूँ, कि हिन्दी और उर्दू को समीप लाना होगा तो मेरा मतलब है कि द्विभाजन का अन्त होना चाहिए। साफ-साफ कहा जाए तो इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं : या तो समन्वय होगा या दोनों में से एक शाखा सूखकर तिरोहित हो जाएगी। पुनः स्पष्ट कहा जाए तो समन्वय होना असम्भव है। इसका बहुत स्पष्ट साहित्यिक कारण है, ब्रजभाषा और आधुनिक हिन्दी का फर्क। कोई भी साहित्य पुरुषार्थी चाहे कितनी भी बहुमुखी प्रतिभावाला क्यों न हो यह कल्पना करना कि वह

दोनों को एक शैली के अन्तर्गत समन्वित कर पाएगा कोरा मनोविलास है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कोशिश की और असफल रहे। छायावादी सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी प्रसिद्ध भर्त्सना में पूरे आत्मबल से ब्रजभाषा पर प्रहार किया तो वे इस कृत्य में साम्प्रदायिक या मतान्ध नहीं हो रहे थे वे केवल आधुनिक साहित्यिक धारा की अनिवार्य परिणति को ही व्यक्त कर रहे थे। आज छुटभैया लेखकों द्वारा हिन्दी उर्दू का समन्वय करने की दयनीय कोशिश बिना भारतेन्दु की प्रतिभा के भारतेन्दु आस्थान का पुनरावर्तन है। भाषा शास्त्र के पण्डित उसके लिए कारण ढूँढ़ सकते हैं, लेकिन इस चमत्कारों के देश में एक अजूबा चमत्कार विशेष परिलक्षित होता है अनन्तकाल से ऐतिहासिक युगों के उतार-चढ़ाव के साथ नए साहित्यिक भाषायी स्वरूप उग आए हैं और पुराने स्वरूप सूखकर गायब हो गए हैं। शायद ऐसा है कि हर नया युग अपने साथ अपना नए नमूने का साहित्यिक माध्यम लेकर आता है पुराना स्वरूप शायद ज्यादा सख्त और गैर लचीला सिद्ध होता है नए सन्दर्भ में।

अब हम दूसरे प्रस्तावित विकल्प पर पहुँचते हैं कि यदि इस द्विभाजन को खत्म होना है तो हिन्दी और उर्दू में से एक को सूखकर समाप्त हो जाना होगा। ब्रजभाषा की तरह एक साहित्यिक लेखक के सामने यदि उसे अपनी कला के प्रति ईमानदार रहना है तो कोई और विकल्प नहीं है, तब प्रश्न यह है कि किसे समाप्त होना है? इसका उत्तर दोनों माध्यमों की सांस्कृतिक ध्वनियों और सीमाओं में तलाशना होगा।

उर्दू की व्युत्पत्ति

यहाँ आकर जिसे मैं पहले पारिवारिक परिप्रेक्ष्य का विकृतीकरण कह चुका हूँ उस पर विचार करना जरूरी हो जाता है। उर्दू जैसा मुहम्मद हुसैन आजाद ने कहा है 'भाषा' में से निकली और उसने उसे स्थानापन्न किया। स्पष्ट है कि 'भाषा' कुछ सांस्कृतिक प्रेरणाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पाई जिनके लिए इस नए माध्यम की जरूरत पड़ी। ये सांस्कृतिक प्रेरणाएँ क्या थीं? अँग्रेजी पूर्व उर्दू के दोनों छोरों पर ये दो बादशाह खड़े हैं मुहम्मद शाह रंगीला और बाजिद अली शाह। उर्दू के अस्तित्व का कारण वह सबसे चित्रोपम क्षय काल था जिसे हमारे देश या किसी भी देश ने कभी भी देखा है। *अपने उद्भव से पूर्णता तक' के दो सौ वर्षों में इस क्षय की छाप अमिट रूप से उर्दू के चेहरे-मोहरेनाक-नक्शे पर पड़ चुकी है। यदि यह नया माध्यम किसी जीवन्त शक्ति की उपज होता तो उसने आखिर में ब्रजभाषा को पूरी तरह से स्थापनापन्न कर दिया होता या अगर यह माध्यम इतना बहुमुखी होता कि उसने इस क्षय को ही पूरी तरह ढँक लिया होता तो भी उसने ब्रजभाषा को अप्रासंगिक ही बना दिया होता। लेकिन इस क्षय का भी एक हिस्सा उर्दू के दायरे के बाहर रह गया। यह कार्य पूरा किया ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों ने। एक घातक भूल जो उर्दू के लेखकों से हुई वह यह थी कि उन्होंने पहले के ब्रजभाषीय या शास्त्रीय कवियों की*

उद्दीप्त और जीवन्त परम्पराओं से अपने को पूरी तरह से काट लिया। और क्षय तो फिर क्षय है ही।

पुनर्जागरण

उन्नीसवीं सदी में हिन्दी का उद्भव सांस्कृतिक था भारतीय पुनर्जागरण के नए युग से। यदि हिन्दी एक समुदाय की दूसरे समुदाय से प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करने का माध्यम मात्र होती तो वह अब तक पुराणपन्थी दकियानूसी पण्डितों द्वारा बनाया संग्रहालय में रखने लायक एक और अजूबा बनकर रह गई होती। *बिना किसी प्रामाणिक सांस्कृतिक अनिवार्यता के कोई साहित्यिक माध्यम टिका नहीं रह सकता। यह याद रखना चाहिए कि आधुनिक हिन्दी जितना उर्दू के विरोध में खड़ी थी उतना ही ब्रजभाषा के विरोध में भी खड़ी थी।* सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह उदीयमान मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग तथा कृषक वर्ग जिसे उर्दू ने अपने से दूर रक्खा और जिसे ब्रजभाषा ने भुला दिया, की अल्पज्ञता की उपज थी। पतनोन्मुख सामन्तवाद को ब्रिटिश राज्य से एक नया प्रोत्साहन मिला और उसकी लम्बोतरी परछाइयाँ हिन्दी उर्दू दोनों के साहित्य में पड़ रही थीं उस समय भी जब उसका सूर्य अस्त हो रहा था। एक और बात हुई इस पुनर्जागरण के एक हिस्से ने प्रतिक्रियावादी पुनर्चलनवादियों के हाथ में साम्प्रदायिक शक्ति अख्तियार कर ली। और यहीं से सम्प्रदायवाद के साथ उसके एकात्म हो जाने का दुर्भाग्य हुआ। फिर भी यह मुख्य धारा का एक हिस्सा ही था।

चुनाव

साहित्यिक लेखक के सामने इस परिप्रेक्ष्य में अपने माध्यम के चुनाव का सवाल आया था। नई प्रेरणाएँ नए सामाजिक संघर्ष नए उद्वेग जो मध्यमवर्ग की यन्त्रणाग्रस्त लेकिन कृतसंकल्प व्यक्तित्व और चकराए हुए लेकिन जड़ से हिली हुई आत्मा वाले कृषक वर्ग के व्यक्तित्व जो साहित्य के लिए अछूती जमीन थे उन्हें घेरना था? अभिव्यक्ति करना था। लेखक को ऐतिहासिक भूतकाल को स्वीकार करते हुए भी अपने को एक जीवन्त और लचीले रूपविधान द्वारा अभिव्यक्त करना था। साहित्य में क्रान्ति एक गतिशील और लचीले माध्यम का चुनाव अनिवार्य बना देती है। उर्दू साहित्य के दिग्गजों का भक्त और प्रशंसक यह महसूस करने से अपने को नहीं रोक पाता कि उन्होंने जो दाय छोड़ा है हमारे लिए वह नई जरूरतों के हिसाब से कुछ अधिक सुघड़ अधिक बारीक और अधिक तराशी हुई है। इसलिए अपर्याप्त है। ब्रजभाषा का पतन भी इन्हीं कारणों से हुआ था। *एक करीब-करीब कोरा कागज चाहिए था। जैसा कि स्पष्ट है भविष्योन्मुखी होने के कारण हिन्दी ने इस अर्थ में अधिक गतिशीलता और लचीलेपन का सामर्थ्य प्रदर्शित किया है।* अतः आधुनिक

हिन्दी जिसका विकास आधुनिक काल के साथ समकालिक है के ही पक्ष में चुनाव का पासा पड़ना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि उर्दू को बदलने के प्रयास इधर के वर्षों में नहीं हुए हैं। लेकिन जो परिणाम हुआ वे इसी दिशा में इंगित करने वाले दिक्निदेशक सिद्ध हुए हैं जो यहाँ बताई गई है। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के परित्याग ने हिन्दी के कवियों को वह शक्ति दी कि वे कविता और सवैया के अपर्याप्त रूपविधान के ऊपर उठकर नए युग को अभिव्यक्त कर सकें। उर्दू कविता का अधिकांश हिस्सा अभी भी गजल के रूप में है और गजल के रूप पर अब भी अठारहवीं शताब्दी के मीर और गालिब की छाया मँडरा रही है। हिन्दी छायावाद के दबाव से कुछ उर्दू के कवियों ने गीत के स्वरूप का प्रयोग करने की कोशिश की और इस क्षेत्र में उनकी असफलता को देखकर लेखकों को बहुत तीव्रता से और गम्भीरता से इस पर विचार करना चाहिए। यदि वे असफल होते हैं और प्रतिष्ठा के झूठे ख्यालों से प्रेरित होते रहे तो अपने को हाथी दाँत की मीनारों या गुस्से और शोर-शराबे की मीनारों में कैद करते जाएँगे और निश्चय ही देश की रचनात्मक ऊर्जा और प्रेरणा की मुख्य धारा से अपने को विच्छिन्न कर लेंगे। कुछ लोग हैं जो अभी भी ब्रजभाषा के पुराने रूपविधान में लिखने की जिद्द करते हैं। वे रूपविधान रोचक लगते हैं और कभी-कभी प्रभावोत्पादक भी लेकिन यह सब ले कहाँ जाता है?

अतः अवश्यम्भावी चुनाव मुझे कुछ इस तरह का लगता है

1. उर्दू दिग्गजों को हमारे साहित्यिक इतिहास का एक अंग मान लेना चाहिए जैसा ब्रजभाषा के दिग्गजों को माना गया है।
2. उर्दू को हमारे सांस्कृतिक दाय में आत्मसात हो जाना चाहिए।
3. उर्दू को ब्रजभाषा की तरह स्वाभाविक रूप से तिरोहित हो जाने देना चाहिए।
4. हिन्दी माध्यम का चुनाव साहित्यिक कारणों से होना चाहिए भावुकता के आधार पर नहीं।
5. किसी भाषायी स्वरूप की सेवा में लिखने के दिखावटी ताम-झाम को साहित्यिक बचकानापन समझकर उससे बचना चाहिए।

राष्ट्रीय प्रगति और अध्यापक

जगमोहन सिंह राजपूत*

सैकड़ों वर्षों की पराधीनता के बाद एक अद्वितीय संघर्ष की परिणति के रूप में मिली भारत की स्वतन्त्रता के छः दशक पूरे हो गये हैं। 1947 में 33 करोड़ जनसंख्या तथा 20 प्रतिशत से कम साक्षरता के आंकड़े आज बढ़कर 112 करोड़ और 68.70 प्रतिशत पर हैं। 20 विश्वविद्यालय तथा 500 महाविद्यालय आज 370 विश्वविद्यालयों तथा 18000 से अधिक महाविद्यालयों के रूप में देश में चल रहे हैं 12.24 लाख स्कूलों में से आज 86.90 प्रतिशत गाँवों में हैं। कक्षा 10 तक पहुँचने के पहले 63 प्रतिशत विद्यार्थी स्कूल छोड़ देते हैं। 25 प्रतिशत अध्यापक स्कूलों में जाते ही नहीं हैं। 42 हजार स्कूलों में भवन नहीं हैं और 107842 में केवल एक कमरा है। 90 हजार स्कूलों में ब्लैक बोर्ड नहीं हैं। आँकड़ों की अपनी दुनिया है। सरकारें आँकड़ों के बढ़ने को ही प्रगति का द्योतक मानती हैं। यह आवश्यक तो हैं परन्तु प्रगति का अर्थ आँकड़ों के बहुत आगे तक जाता है। वे क्षेत्र भी जहाँ आँकड़े सर्वोपरि होते हैं जैसे अनाज उत्पादन या कारखानों में उत्पाद विशेष का बननाकेवल आँकड़ों से ही प्रगति नहीं नाप पाते हैं। गुणवत्ता उन्हें भी बनाये रखनी पड़ती है और लगातार बढ़ानी पड़ती है। वितरण तथा पहुँच का दायरा भी महत्वपूर्ण होता है। अनेक बार अनाज के भण्डार भरे रहते हैं और लोग भूखे मरते हैं। शिक्षा का क्षेत्र तो मानव के विकास तथा प्रगति की धुरी रही है और इसकी समग्रता तथा विस्तार मिलकर न केवल इसकी महत्ता को स्थापित करते हैं, वरन् मानव मात्र के अस्तित्व को बनाये रखने में इसकी अनिवार्यता को भी लगातार उजागर करते रहते हैं।

शिक्षा की चर्चा सामान्यतः हमारे सामने एक अध्ययन केन्द्र का भाव चित्र उपस्थित करती है, जहाँ देश की नई पीढ़ी अपनी अवस्थानुसार अध्यापकों और प्राध्यापकों के मार्ग निर्देशन में अपने को वयस्क जीवन की जिम्मेदारियाँ निभाने के लिए तैयारी करने में लगी होती है। इस व्यवस्था में उपलब्धियों का परिमाण अध्यापक के चारों ओर घूमता है। वह कम या ज्यादा होगा या केवल सामान्य बना रहेगा यह

* प्रोफेसर जगमोहन सिंह राजपूत राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के पूर्व निदेशक रहे हैं।

इस तथ्य पर निर्भर करता है कि अध्यापक किस सीमा तक अपनी क्षमताओं, प्रतिबद्धताओं तथा कार्य निष्पादन में निष्णात है और किस सीमा तक वह यह आत्मसात कर चुका है कि जो नई पीढ़ी तैयार हो रही है और आगे देश चलाएगी, उसके निर्माण में वह भाग ले रहा है, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करने का अवसर उसे मिला है और हजारों-हजार नागरिकों का जीवन वह सँवार रहा है। यदि ऐसा नहीं है तो वह विशाल सरकारी तन्त्र में एक पुर्जा बन जाता है और इस तन्त्र की सर्वविदित अक्षमताओं में खो जाता है।

भारत के अध्यापक अनेक परिस्थितियों तथा अनेक प्रकार की कमियों में कार्य करते हैं। अनेक राज्यों में कितने ही वर्षों तक कई हजार पदों का रिक्त रहना एक सामान्य स्थिति बन गई है। अब शिक्षा मित्र, गुरुजी, शिक्षाकर्मी जैसे सम्बोधनों के साथ नाम मात्र के मानदेय पर अनियतकालीन तथा अल्पकालीन नियुक्तियाँ राज्य सरकारें बड़े मनोयोग से कर रही हैं और उसका कारण संसाधनों की कमी को बताया जाता है। इस तर्क को स्वीकार करने का स्पष्ट अर्थ है शिक्षा की गुणवत्ता से मुँह मोड़ लेना। इस पर गहन विमर्श की आवश्यकता है।

आज समाज में अध्यापकों की छवि तथा प्रतिष्ठा और सम्मान किस स्तर पर हैं? किसी भी सर्वेक्षण में अब अविश्वास, शंका, आशंका, अकर्मण्यता, इत्यादि अनेक शब्द उभरकर सामने आ जाते हैं, जो अध्यापकों की विद्वत्ता, प्रतिभा, कर्मठता, सेवा भावना पर छींटे डाल देते हैं। भारत की परम्परागत शिक्षा व्यवस्था तो निःस्वार्थ सेवा भाव के इर्द-गिर्द ही बनी है। अनेक आक्रमणों एवं आघातों ने इसमें व्यवधान डाले, परन्तु इसकी मूल भावना सदा जीवन्त बनी रही है। सारे देश में आज भी अध्यापकों का सम्मान है, उनसे बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ हैं और जो भी परिवार अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं वे स्कूल तथा अध्यापकों के प्रति सम्मान तथा श्रद्धा से आकृष्ट होकर ही ऐसा करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा है अपवादस्वरूप कई घटनाएँ अनेक बार अध्यापकों के अन्दर हो रहे कई अस्वीकार्य परिवर्तनों को इंगित करती हैं। ऐसा कहीं पर और कभी न हो ऐसे उपाय खोजने होंगे तथा देश को ऐसे अध्यापक तैयार करने होंगे, जो भारत की प्रगति में सार्थक योगदान के लिए बच्चों को तैयार कर सकें। ऐसा वही अध्यापक कर सकेंगे, जो सक्षम, प्रतिबद्ध एवं कर्तव्यनिष्ठ होंगे तथा जीवन पर्यन्त सीखने के लिए तत्पर रहेंगे।

भारत के विकास में नई पीढ़ी को किन किन समस्याओं से जूझना पड़ेगा और अध्यापक उसमें कैसे योगदान कर सकेंगे यह निश्चित रूप से शिक्षा व्यवस्था को स्पष्ट होना चाहिए तथा शिक्षा, शिक्षण तथा प्रशिक्षण में इसको एक विशिष्ट स्थान देकर इसके सभी आयामों पर अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों को तैयार किया जाना चाहिए। किसी भी विकासशील देश के लिए प्रगति के रास्ते प्रारम्भिक शिक्षा के सम्पूर्ण विस्तार से ही खुलते हैं। हमारे अध्यापक स्कूल के बाहर रह गये बच्चों को स्कूल में

लाने तथा उसके बाद उस वातावरण का निर्माण करने में योगदान कर सकते हैं, जिसमें आकर कोई बच्चा स्कूल बीच में न छोड़े। आज सारा देश यह जानता है कि हमारे स्कूल बड़ी संख्या में अनुशासित कार्य-संस्कृति का पालन नहीं करते हैं। स्कूलों का समय पर न खुलना, शिक्षकों का पूरे समय कार्य न करना तथा अनियमित होना कहीं भी देखा जा सकता है। यदि अध्यापक समय से कक्षा में नहीं आता है और यदि बच्चे लगातार उसकी लगनशीलता नहीं देखते हैं तो भविष्य में उन पर इसका प्रभाव बना रहेगा। वह किसी की प्रगति के लिए सहायक नहीं होगा। यह एक ऐसा कार्य है, जो अध्यापक, उसके समूह और उनके संगठनों को पूरी जिम्मेदारी और ईमानदारी से स्वयं निर्णय लेकर लागू करना चाहिए। इसमें समाज स्वयं आगे आकर उनकी सहायता करेगा और सहयोग देगा। जिन स्कूलों में अध्यापकों तथा संसाधनों की कमी शिक्षा देने में बाधक बनती है, वहाँ आज भी समाज आगे आकर उसे पूर्ण करने का प्रयास कर सकता है और अनेक जगहों पर करता भी है। इसके लिए अध्यापक ही स्कूल और समाज की परस्परता को सुदृढ़ बना सकते हैं।

‘मेरा जीवन ही मेरा संदेश है’ कहा था गाँधीजी ने। लाखों लोगों ने अपना जीवन गाँधी जी के सिद्धान्तों पर ही नहीं उनके जीवन जीने के उदाहरण के अनुसार ढाला था। सामान्य स्तर पर बच्चे माता-पिता से भी ज्यादा अपने अध्यापकों के हर कार्य कलाप तथा आचरण को सम्मान और श्रद्धा से देखते हैं और उसका अनुसरण करते हैं। हर अध्यापक, जाने-अनजाने अपने कुछ विद्यार्थियों का आदर्श बन जाता है। शिक्षक प्रशिक्षण इस ‘सत्य’ को हर अध्यापक के मन में अन्तर्निहित करें तो अध्यापक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलेगा और उसकी हर प्रकार की गतिविधि में यह ध्यान दिखाई देगा कि वह बच्चों के प्रति अपनी जिम्मेदारी का खयाल हर समय रखता है।

प्रगति के लिए मानव मूल्यों में आस्था अत्यन्त आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जीवन के हर कार्य कलाप तथा प्रगति की हर प्रक्रिया में मूल्यों का क्षरण हर तरफ दिखाई दिया है। भ्रष्टाचार से आम आदमी हर तरफ त्रस्त है और उसे अधिकांश अवसरों पर बिना इसको स्वीकार किये इससे बाहर निकलने का रास्ता दिखाई नहीं देता है। अध्यापक परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में सद्-आचरण के प्रतीक तथा मूल्यों की व्यवहारिकता को समझने वाले माने गये हैं। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारत के अध्यापकों ने गाँव-गाँव, शहर-शहर जाकर लोगों को इससे परिचित कराया, गाँधी के जीवन मूल्यों को व्यवहारिक जीवन में अपनाया और युवा पीढ़ी को राष्ट्रभक्ति, निःस्वार्थ सेवा तथा समर्पण के मूल्यों को आत्मसात करना सिखाकर उन्हें आन्दोलन में शामिल होने की प्रेरणा दी। उस समय जो भी ऐसा कार्य करते थे, वे अध्यापक अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देते थे। व्यवस्था तथा सरकार उनके प्रति शंकालु तथा दुर्भावना ग्रस्त रहती थी। आज भी भ्रष्टाचार, अनाचार तथा अनैतिक

आचरण के विरुद्ध एक बड़े राष्ट्रव्यापी आन्दोलन की आवश्यकता है। इसके बिना विकास एवं प्रगति की उपलब्धियाँ केवल एक छोटे-से वर्ग तक ही पहुँच सकेंगी। आज 30 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं, 70 करोड़ लोगों के हिस्से में प्रतिदिन केवल 20 रुपये ही आते हैं, तीन वर्ष से कम आयु के लगभग 50 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। यदि स्वराज्य के बाद गाँधी जी की संकल्पना की व्यवस्था बनी होती तो ऐसी स्थिति न आती। किसी भी प्रकार की दलगत राजनीति से परे हटकर देखने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि भारत की संसद और विधानसभाएँ आज उस ढंग के मानदण्ड प्रस्तुत नहीं कर रही हैं, जिन्हें देखकर नई पीढ़ी में राजनीति में रुचि तथा नेताओं के प्रति सम्मान बढ़े। शिक्षक केवल डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबन्धक या अन्य व्यवसायों के लिए ही तैयारी नहीं कराते हैं वे देश का राजनीतिक नेतृत्व भी तैयार करते हैं। वे केवल पाठ्यक्रम में निर्धारित पाठ पढ़ाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मान सकते। उन्हें बच्चों को न केवल मूलभूत कर्तव्यों से परिचित कराना है, वरन् उन्हें आत्मसात भी कराना है। इस सम्बन्ध में गाँधी जी ने लिखा है कि उनकी माँ ने उन्हें बताया था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करे तो सभी को उनके अधिकार मिल जाएँगे। कर्तव्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में इतना सशक्त सिद्धान्त वाक्य और कोई हो ही नहीं सकता है। यदि प्रत्येक अध्यापक इसे समझ ले और बच्चों को कैसे समझाना है, यह जान ले, तो सामान्य जन को ही नहीं पूरे समाज को लाभ मिल सकता है।

अधिकतर पाठ्यक्रम राज्य स्तर पर राष्ट्रीय नीतियों के अनुसार निर्धारित होते हैं। त्रिपुरा और त्रिवेन्द्रम में पाठ्यपुस्तकें एक-सी नहीं हो सकतीं। सामाजिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय सन्दर्भ बदलते हैं। इनका शिक्षा में अपना महत्त्व है। इनकी सबसे अच्छी समझ उस अध्यापक को ही हो सकती है, जो परिवेश विशेष में रहता है। उसकी मौलिकता यहाँ निखर सकती है। वह नई-नई गतिविधियों में बच्चों को लगा सकता है, उनकी सर्जनात्मकता तथा कौशल को विकसित कर सकता है। इस प्रकार के प्रयासों की एक विकासशील देश में गहन आवश्यकता है। प्रत्येक अध्यापक यदि बच्चों की विशेष अभिरुचियाँ जानने का प्रयास करे और बाद में उसे आगे बढ़ाने में मदद करे तो शिक्षा में हर प्रकार की गुणवत्ता बढ़ेगी। अध्यापकों को सदा यह याद रखना चाहिए कि बच्चों का अपने आसपास के वातावरण तथा पर्यावरण को जानना उनके बढ़ने में सबसे ठोस आधार प्रदान करता है और यह कार्य स्थानीय अध्यापक ही कर सकते हैं। इसी वातावरण में बच्चे आदतें, मूल्य तथा व्यवहार की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करते हैं। पर्यावरण के हर पक्ष को जानना तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए बच्चों को तैयार करना; व्यक्ति, समाज तथा प्रकृति के आपसी सम्बन्ध की मनुष्य जाति के जीवित रहने के लिए जो आवश्यकता है, उसकी समझ भी अध्यापक ही दे सकते हैं।

भारतीय संस्कृति तथा ज्ञानार्जन की परम्परा से सभी अध्यापकों को परिचित होना चाहिए। वाचिक परम्परा से उन्हें अनभिज्ञ रखना उचित नहीं है। विद्या की सम्पूर्णता के पाणिनि ने चार प्रकार कहे थे-अध्ययन कालेन, मनन कालेन, प्रवचन कालेन एवं प्रयोग कालेन। जो पढ़ा है उस को सुदृढ़ करने के लिए और अध्ययन तथा परिष्कृत करने के लिए चर्चा-चिन्तन आज भी उतने ही उपयोगी हैं। भारत में शिक्षा का व्यवसायीकरण व्यापारीकरण के रूप में नहीं हुआ था, आज हो रहा है। इसमें सामंजस्य कैसे बैठेगा, यह चित्र तो कुछ वर्ष बाद ही स्पष्ट होगा। इस समय उपभोक्तावाद तथा भौतिकवाद का बढ़ाव बड़ी तेजी से हो रहा है। भारत की शिक्षा व्यवस्था पर उसका प्रभाव पड़ रहा है-पश्चिम के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं, सामाजिक एवं पारिवारिक बन्धन तथा मान्यताएँ दबाव में हैं। इन परिस्थितियों में भारतीय शिक्षा व्यवस्था को यह ध्यान रखना पड़ेगा कि वह भारतीयों को अपनी संस्कृति तथा विरासत से जोड़े रखे। उनके सुविख्यात अतीत की उपलब्धियों को विश्व के सामने आज की भाषा में रखने में सक्षम बनाए। अध्यापकों का प्रशिक्षण भी इसे ही ध्यान में रखकर करना होगा। “यावत्जीवेत अधीयते विप्रः” भारत की जीवनपर्यन्त सीखने की विधा को स्पष्ट करता है। हर अध्यापक को लगातार नया सीखने के लिए न केवल तैयार रहना चाहिए, वरन् उत्सुक रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में गाँधी जी ने ‘हरिजन सेवक’ के 15.2.1942 के अंक में लिखा था

“जो शिक्षक अपने विद्यार्थियों में घुल मिल जाता है और तन्मय हो जाता है वह जितना उन्हें सिखाता है, उससे अधिक उनसे सीखता है। जो (अध्यापक) अपने विद्यार्थियों से कुछ सीखता नहीं है, मेरी दृष्टि में वह निकम्मा है। मैं जब किसी से बात करता हूँ, तब उससे सीखता हूँ। जितना उसे देता हूँ, उससे अधिक ले लेता हूँ। इस प्रकार एक सच्चा शिक्षक अपने शिष्य का भी शिष्य बनकर रहता है। यदि आप इस दृष्टि से अपने शिष्यों को सिखाने का काम करेंगे तो आप उनसे बहुत कुछ पाएँगे।”

राष्ट्र की प्रगति में यदि कोई वर्ग सबसे अधिक योगदान कर सकता है तो वह है अध्यापक वर्ग। प्रगति की गति एवं गुणवत्ता अध्यापकों की गुणवत्ता एवं सच्चाई पर निर्भर करती है। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है चरित्र निर्माण तथा मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की। यह केवल अध्यापक ही कर सकते हैं-समाज के साथ मिलकर। अध्यापक ‘व्यक्ति’ को तैयार करते हैं-ऐसे युवा, जो बौद्धिक, मानसिक, नैतिक और शारीरिक रूप से सुसम्पन्न व्यक्तित्व के धनी हों-जितनी इनकी संख्या अधिक होगी राष्ट्र की सुसम्पन्नता उतनी ही अधिक बढ़ेगी। तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षावल्ली अध्याय आठ में इसका वर्णन आता है

युवा स्यात्साधु युवाऽध्यापकः ।
अशिष्टो द्रष्टिष्ठो बलिष्ठः ।
तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णस्यात् ।
स एको मानुष आनन्दः ॥

और ऐसी युवा पीढ़ी किस प्रकार के अध्यापक तैयार कर सकती हैइसे जानने के लिए पुनः गाँधी जी के विचारों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है

“मैं तो उनके शिक्षकों से भी कहता हूँ कि वे अपने हृदयों का परिष्कार करें तथा विद्यार्थियों के साथ एक दिली सम्बन्ध स्थापित करें। मैंने तो यह महसूस किया है कि शिक्षकों का वास्तविक काम कक्षा में उतना नहीं है, जितना कक्षा के बाहर होता है। आजकल के मामूली जीवन में जिसमें शिक्षक और प्रोफेसर केवल उतना ही काम करते हैं, जितनी कि उन्हें तनख्वाह मिलती है, उनके पास इतना समय नहीं है कि वे कक्षा के बाहर विद्यार्थियों को समय दे सकें और यही चीज आजकल के विद्यार्थियों के जीवन तथा चरित्र के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। उनको चाहिए कि वे विद्यार्थियों के मस्तिष्कों को प्रशिक्षित करने के बजाय उनके हृदयों का विकास करें। उनको चाहिए कि वे छात्रों को अपने शब्दकोष में से उस हर एक शब्द को मिटाने में सहायता करें, जो हतोत्साह और निराशा का सूचक है (संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, 40, पृ. 126)।”

शिक्षावल्ली का श्लोक और गाँधी जी के उपर्युक्त विचार अध्यापकों के समक्ष वह सब रख देते हैं, जो उन्हें राष्ट्र की प्रगति में सार्थक योगदान देने के लिए प्रेरित कर सकते हैं और एक सफल जीवन जीने का सुख और आनन्द प्रदान कर सकते हैं।

प्रथम स्वातंत्र्य समर : राष्ट्रवाद कर उभार

कैलाशचन्द्र पन्त*

भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की 150वीं वर्षगाँठ पर देश में उस क्रान्ति को नये-नये कोणों से परखने की कोशिश हुई। अब तक उस स्वाधीनता संघर्ष को नकारने वाला जो छोटा-सा वर्ग था, उसके पास अंग्रेजों द्वारा प्रचारित दो ही तर्क थे (1) बन्दूकों के लिये कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी से हिन्दू और मुसलमान फौजियों ने बगावत की थी और (2) कुछ राजवंशों ने अपनी सत्ता बचाने के लिये अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ बगावत की थी। इन दोनों तर्कों को प्रचारित करने वालों का एक उद्देश्य बहुत साफ था। 1857 की क्रांति स्वाधीनता आंदोलन नहीं थी, वह बगावत थी। भारत से अंग्रेजों के जाने के साठ वर्षों बाद भी उसे बगावत कहने वाले मौजूद हैं। यह मानने वाला वर्ग चाहे जितना छोटा है, इस बात का सबूत तो देता ही है कि अंग्रेजों की शिक्षा-पद्धति और प्रचार-तंत्र ने मानसिक दासता के जो बीज बोये थे, उनका प्रभाव कितना गहरा हुआ। कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी यूरोप और अमेरिका के विद्वानों के मत को ब्रह्म-वाक्य मानते हैं और अपने ही देशी विद्वानों के शोधपूर्ण अभिमत को नकारते हैं। अपने देश की प्रतिभा के प्रति अवमानना का यह भाव ही उस हीनग्रंथि का द्योतक है, जिसे अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने कुशलता से रोपने की कोशिश की थी।

अंग्रेजों की सारी नीतियाँ और सारा शोध इस बात पर केन्द्रित था कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। भारत को एक प्रायद्वीप बताने के पीछे भी अंग्रेजों की दूरगामी कूटनीति काम कर रही थी। गाँधीजी ने लन्दन में 1939 में कहा था “अंग्रेज जब भारत में आए, तब उन्होंने यहाँ की स्थिति को यथावत स्वीकार करने के स्थान पर उसका उन्मूलन करना शुरू किया।” गाँधीजी की यह दृष्टि एक विशुद्ध राष्ट्रवादी भारतीय की दृष्टि मानी जा सकती है। लेकिन एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी के प्रो. मेंकनोशी जैसे विद्वान को भारत के ज्ञान के केन्द्रों से उपलब्ध ग्रंथों को लिखित रूप में सुरक्षित

* लेखक मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल के मंत्री-संचालक तथा द्वैमासिक ‘अक्षरा’ के प्रधान संपादक हैं।

रखने की चिन्ता क्यों सता रही थी? गाँधीवादी चिन्तक और भारतीय मनीषा के प्रतीक बन चुके धर्मपाल जी का निष्कर्ष है “इन विद्वानों को अपने अनुभव एवं चिन्तन के परिणाम-स्वरूप लगातार यह भय सता रहा था कि किसी भी संस्कृति पर आक्रमण करके उसका विनाश करने से केवल संस्कृति का ही नाश नहीं होता अपितु ज्ञान-भण्डार भी नष्ट होते हैं।” (धर्मपाल, रमणीय वृक्ष, पृ. 17)। लेकिन भारत के तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिए भारतीय ज्ञान का कोई महत्त्व ही नहीं रहा।

भारत एक सांस्कृतिक राष्ट्र है। अनेक राजनीतिक इकाइयों के बावजूद भारत का एक राष्ट्र के रूप में हजारों वर्षों तक अस्तित्व में बने रहना यूरोपीय विद्वानों के लिए पहेली बना हुआ है। इसके अस्तित्व के मूल पर आघात करने की सोची-समझी साजिश अंग्रेजों ने आते ही क्रियान्वित करनी शुरू कर दी। वस्तुतः 1947 में भारत का भौगोलिक विभाजन सैकड़ों वर्षों की उसी साजिश का परिणाम था। यह दिलचस्प शोध होगी कि सत्रहवीं सदी के बाद भारत में जाति व्यवस्था, आदिवासी समूहों, भाषायी विभिन्नता और उनका मूल स्रोत तथा नस्ल वैभिन्न्य पर विदेशी विद्वानों और उनके भारतीय वेतनधारी विद्वानों ने कितने व्यापक अध्ययन किए और उन शोधों पर आधारित कौन-सी नीतियाँ अंग्रेजों ने भारत में लागू कीं। इन शोध-कार्यों पर होने वाले खर्च का आकलन किया जाएगा तो हतप्रभ रह जाना पड़ेगा। लेकिन यूरोप के देशों ने इतनी अधिक धनराशि और भारत को समझने के लिए आन्तरिक व्यवस्थाओं के भीतर झाँकने का जो व्यापक उपक्रम किया, उसके पीछे दूरगामी लक्ष्य थे। स्वतंत्रता के साठ वर्ष बाद उनका प्रभाव आसानी से समझा जा सकता है। 1857 की क्रान्ति की पुनर्व्याख्या करते हुए कहा जा रहा है कि वह आजादी की पहली लड़ाई नहीं, बल्कि अंग्रेजों के खिलाफ नस्लवादी दंगा था (हंस, सितम्बर 2007)। कहा यह भी गया कि अंग्रेजों ने जाति और धर्म के भेदभाव को समाप्त कर आधुनिक शिक्षा शुरू की थी। सवर्ण हिन्दू इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। अंग्रेज और अंग्रेजीपरस्ती का इससे बड़ा उदाहरण नहीं मिल सकता। शायद इन बुद्धिजीवियों को गाँधीजी के उस बयान पर भरोसा नहीं है, जो उन्होंने 1931 में लन्दन में दिया था “विगत 50100 वर्षों में भारत में साक्षरता का अत्यन्त हास हुआ है और इसके लिए अंग्रेज ही जिम्मेदार हैं।”

गाँधी जी के इस कथन को सर फिलिप हार्टोग ने चुनौती देते हुए अभिलेखीय प्रमाण माँगे थे। गाँधी जी जेल में थे। हार्टोग को प्रमाण भिजवाये गये थे, यद्यपि वह इससे संतुष्ट नहीं हुआ। लेकिन मानसिक गुलामी में जकड़े हुए हमारे देश के चन्द बुद्धिजीवियों के द्वारा एडम फर्ग्युसन द्वारा अपने विद्यार्थी जोहन मैकफर्सन से भारत संबंधित समस्त जानकारी एकत्र करवाने के प्रयास को क्यों अनदेखा कर दिया जाता है? सन् 1783 में मेंकनोशी कहता है “हिन्दुओं की ये सब प्राचीन रचनाएँ प्राप्त करके अंग्रेज समूचे यूरोप में खगोल शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में बहुत कुछ कर पाएगा। हिन्दुओं की ये प्राचीन परम्पराएँ, इतिहास, साहित्य, बोध कथाएँ आदि समस्त

प्रचीन विश्व के इतिहास को उद्घाटित कर सकते हैं। मोजेज ने जिनसे ज्ञान प्राप्त किया था तथा ग्रीस ने जिनसे धर्म और कलाएँ सीखी थीं, उन विद्वानों की संस्थाओं के बारे में हम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।” उल्लेखनीय है कि जोह्न मैकफर्सन भारत में एक उच्च सरकारी अधिकारी था। उसके संबंध में फर्ग्युसन ने कहा था “वह ऐसा व्यक्ति है, जो भारत से इस देश में (इंग्लैण्ड में) ज्ञान का प्रकाश ला सकता है।” भारत में जिन लोगों को गोरी चमड़ी के विद्वानों का मत ही रास आता है, वे फर्ग्युसन और मैकनोशी की धारणाओं का भी अध्ययन कर लेते तो शायद उनके ज्ञान चक्षुओं पर पड़ा परदा हट पाता।

अब गाँधीजी की धारणा के पीछे निहित तथ्यों का परीक्षण कर लेना उचित प्रतीत होता है। उनकी धारणा अंग्रेज सरकार के सर्वेक्षणों पर ही आधारित थी। विलियम एडम ने अपने प्रथम विवरण में लिखा है कि 1830-40 के वर्षों में बंगाल और बिहार के गाँवों में एक लाख के लगभग पाठशालाएँ थीं। चेन्नई प्रदेश के लिए टामस मनरो ने यह मत दिया था “यहाँ प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला थी।” (धर्मपाल, रमणीय वृक्ष, पृ. 16)। मुंबई प्रेसीडेंसी के विषय में जी. एल. प्रेन्टरगास्ट नामक उच्च अधिकारी ने लिखा है कि गाँव बड़ा हो या छोटा, यहाँ शायद ही ऐसा कोई गाँव होगा, जहाँ कम से कम एक पाठशाला नहीं हो। बड़े गाँवों में तो एक से अधिक पाठशालाएँ भी थीं। इसके साथ ही अंग्रेजों के द्वारा किये गए सर्वेक्षण निम्न तथ्यों को उजागर करते हैं

सन् 1800 में भारत में शिक्षा का प्रसार, शिक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम आदि की गुणवत्ता और व्यापकता इंग्लैण्ड की अपेक्षा अच्छी थी।

पाठशालाओं में छात्रों की उपस्थिति का अनुपात इंग्लैण्ड की अपेक्षा भारत में ऊँचा था।

भारत की पाठशालाओं का वातावरण भी इंग्लैण्ड की तुलना में विशेष प्रसन्न और नैसर्गिक था।

भारत में शिक्षक ज्यादा निष्ठा और आत्मीयता से काम करते थे।

पाठशालाओं में द्विज छात्रों की अपेक्षा मुसलमान तथा दलित व अन्य जातियों का प्रतिशत ज्यादा था। यह तथ्य चेन्नई प्रान्त के बारे में उल्लेखनीय है। दक्षिण आर्कोट जिले में द्विज वर्ण के छात्रों की संख्या 13 प्रतिशत थी जबकि चेन्नई जिले में 23 प्रतिशत थी। सेलम जिले में शूद्र और अन्य जातियों के छात्रों की संख्या 70 प्रतिशत तक थी। तिन्नेवरी जिले में यह प्रतिशत 84 था।

एडम ने बिहार और बंगाल के बारे में जो रिपोर्ट दी थी उसमें लिखा है कि अधिकांश शिक्षक कायस्थ, सद्गोप तथा तीस अन्य जातियों के थे। इनमें

चांडाल जाति के 6 शिक्षक थे। ब्राहमण शिक्षक मात्र 11% तथा ब्राहमण विद्यार्थी 25% से कम थे;

पंजाब के संबंध में लिटनर का सर्वेक्षण कहता है कि अंग्रेजों के आधिपत्य में आने से पहले पंजाब में विभिन्न स्तर की पाठशालाओं में 3,30,000 छात्र थे।

उपर्युक्त सर्वेक्षणों की रिपोर्ट देखने के बाद अंग्रेजों एवं मिशनरियों का तर्क कि ब्राहमणों ने अन्य जातियों को पढ़ने नहीं दिया, गलत सिद्ध होता है। फिर दलितवादी विचारकों का यह कथन कितना भ्रामक लगता है कि सवर्ण हिन्दू अंग्रेजों द्वारा लागू की जा रही आधुनिक शिक्षा पद्धति को बरदाश्त नहीं कर पाये। वे इस सच्चाई से क्यों आँख मूँद लेते हैं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में पाँच सौ पाठशालाएँ चलती थीं, किन्तु ज्ञान के क्षितिज उच्च कुल के लोगों तक ही सीमित थे। कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये तथाकथित बुद्धिजीवी बिना सर्वेक्षणों की रिपोर्ट पढ़े ही निश्चित विचारधारा का प्रचार करने के लिये सच को झूठ और झूठ, को सच बताने का दुस्साहस कर रहे हैं?

ऑकड़ों को लेकर अपनी बात को विस्तार इसलिए देना पड़ा जिससे भ्रान्त उद्धरण देने वाले समझ लें कि सत्य को छिपाकर नहीं रखा जा सकता। 1857 की क्रान्ति को अंग्रेजों ने भी गदर कहकर सच्चाई पर परदा डालने की भरसक कोशिश की थी। लेकिन वे असफल रहे। स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने लंदन के पुस्तकालय और संग्रहालय में बैठकर डेढ़ हजार ग्रंथों का अध्ययन किया और तब '1857 का प्रथम स्वातंत्र्य समर' ग्रन्थ लिखा। अपनी इतिहास दृष्टि को स्पष्ट करते हुए सावरकर ने भूमिका में लिखा

“जिसे सत्य, पक्षरहित और मर्मस्पर्शी इतिहास लिखना हो, उसे उस घटना और उस क्रान्ति की ज्वाला की नींव के कारणों का, उसके मूल में क्या तत्त्व थे, उसके प्रधान कारण क्या थे, इन सबका पर्यालोचन करना चाहिए। उस मूल शक्ति को जाने बिना उस क्रान्ति का वास्तविक रहस्य कभी भी समझ में नहीं आता, अतः इतिहास शास्त्र में वर्णन से अधिक मूल स्रोत को दरसाना ही अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। (सावरकर, 1857 का स्वातंत्र्य समर, पृ. 25)

सावरकर जी अपने इतिहास की शुरुआत ही उन दो भ्रांतियों के खण्डन से करते हैं। उन्होंने लिखा है

“अंग्रेज इतिहासकार और अंग्रेजों की कृपा पर पले बढ़े एक देसी ग्रंथकार कहते हैंकारतूसों में गाय और सूअर की चरबी लगाई जाती है, केवल इतना सुनकर ही मूर्ख लोग भड़क गए। सुनी हुई बात सच है या झूठ, इसकी खोज किसी ने नहीं की। एक ने कहा इसलिए दूसरे ने कहा और

दूसरा बिगड़ गया, इसलिए तीसरा बिगड़ गया, ऐसी अंध परंपरा चली, जिससे अविवेकी मूर्खों का समाज जमा हुआ और विद्रोह हो गया।...सन् 1857 जैसे प्रचण्ड क्रांति ऐसे कारणों से उत्पन्न होगी, यह कहने वाले मंद या कुटिल बुद्धि के लोगों को क्रांति एक अविवेकी मूर्खों का समाज लगता है : लेकिन इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि सन् 1857 की क्रांति मुख्यतः कारतूसों के कारण ही पैदा हुई थी तो उसमें नाना साहब पेशवा, दिल्ली का बादशाह, झाँसी की रानी या रोहित खण्ड का खान बहादुर कैसे सम्मिलित हुए? फौजी और सामान्य जन, राजा और रंक, हिन्दू और मुसलमान इन सबको एक साथ आवेशित करने वाली बातें क्षुद्र नहीं होतीं, उसके मूल में होते हैं तात्विक कारण।”

इसी के समान यह प्रचार भी अनर्गल है कि अवध का राज छिनने के कारण ही विद्रोह हुआ। सावरकर जी ने अपनी पुस्तक में 1857 की क्रान्ति पर प्रकाशित एक लेख का उद्धरण भी दिया है, जिसमें लेखक कहता है

“जिन्होंने अवध के नवाब को जन्म से भी कभी देखा नहीं था और न आगे देखने की संभावना थी, ऐसे कितने ही सरल और दयालु लोग अपनी अपनी झोंपड़ियों में नवाब पर आ पड़े दुःखों को कहते जार-जार रोते थे, इसकी कल्पना आपको नहीं है। और ऐसे आँसू बह जाने के बाद, जैसे स्वयं पर ही क्रूर प्रहार हो रहे हों, ऐसा मानकर वाजिद अली शाह के अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा कितने सिपाही प्रतिदिन कर रहे थे, यह भी आपको ज्ञात नहीं।”

वस्तुतः अंग्रेजों की कूटनीति एक निश्चित दिशा में काम करती रही है। वह भारत राष्ट्र के सांस्कृतिक सूत्र को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश करते रहे हैं और उनकी इस कोशिश में बहुत से भोले-भाले भारतीय बुद्धिजीवी दस्तक बनकर उनके सहयोगी बने हुए हैं। 1857 की क्रान्ति भारत राष्ट्र की ऐसी करवट थी, जिससे अंग्रेजी सत्ता भयभीत हो उठी थी। उसने भारत के सामाजिक ताने-बाने को ध्वस्त करने वाली नीतियों को लागू किया और बड़ी सीमा तक सफल रहे। लेकिन इस देश का सच्चा स्वरूप देखना हो तो वह भारत के अस्सी प्रतिशत गाँवों में दिखाई देगा। ऊपर से शांत और निरपेक्ष दिखाई देने वाला भारत का ग्रामीण अपनी शिराओं में स्वराज्य और स्वधर्म का रक्त हर क्षण दौड़ता पाता है। अंग्रेजों के आने से पहले गुरु गोविन्दसिंह ने सामान्य जन को प्रेरित करते हुए लिखा था

*सूरा सो पचाजिए जो लड़े दीन के हेत ।
पुरजा-पुरजा कट मरे तबहु न छोड़े खेत ।।*

समर्थ गुरु रामदास ने चार सौ वर्ष पूर्व यही संदेश तो दिया था

धर्मसा ही मरावें। मरोति अवध्यांसि मारावें।

मारिता मारिता ध्यावें। राज्य आपुलें।

(धर्म हेतु मरें, मरते हुए सबों को मारें, मारते मारते जीतें, राज्य अपना) स्वधर्म और स्वराज्य की इच्छा और उसको प्राप्त करने के लिए बलिदानी भावना भारतीय चरित्र का उल्लेखनीय पक्ष रहा है। इसलिए इतिहास में, अपने पराभव के सबसे दुर्भाग्यपूर्ण दिनों में भी विदेशी शासकों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष जारी रहा। शिवाजी, छत्रसाल और राणा प्रताप के बलिदानी संघर्ष के पीछे व्यापक जन समर्थन स्वधर्म और स्वराज्य के गहरे संस्कारों के कारण ही था। 1757 में पलासी के युद्ध में पराजित होने के बाद 1857 में पुनः स्वराज्य और स्वधर्म के लिए भारतीय जनता उठ खड़ी हुई। क्रांति का वह प्रयास पराजित हो गया, लेकिन भारत एक राष्ट्र के रूप में संगठित हो गया था। फलस्वरूप नब्बे वर्ष में ही अंग्रेजी दासता से मुक्त हो गया। यहाँ दिल्ली के बादशाह का घोषणा-पत्र उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। उसमें धर्म और देश के नाम पर आह्वान किया गया

“हिन्दवासियो, यदि हम सब मन में ठान लें तो शत्रु को क्षण भर में धूल चटा सकते हैं और अपने प्राणप्रिय धर्म एवं प्राणप्रिय देश को पूरी तरह भयमुक्त कर सकते हैं।”

इसी तरह अवध के नवाब के दूसरे आज्ञा-पत्र में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्पष्ट घोषणा दिखाई देती है।

“हिन्दुस्तान के सारे हिन्दुओं और मुसलमानों, उठो। स्वदेश बंधुओ, परमेश्वर की दी हुई सौगात, में सबसे श्रेष्ठ सौगात स्वराज्य ही है। यह ईश्वरीय सौगात जिसने हमसे छीन ली है उस अत्याचारी राक्षस को, वह बहुत दिन पचेगी क्या? यह ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध किया गया कृत्य क्या जय प्राप्त करेगा?...छोटे बड़े के सारे भेदभाव भुलाकर इस सेना में सब ओर समता का राज हो। क्योंकि पवित्र धर्मयुद्ध में जो वीर स्वधर्म के लिए अपनी तलवार म्यान के बाहर निकालते हैं, वे सब समान योग्यता के होते हैं। वे भाई-भाई हैं।”

यह भाईचारा 1857 के प्रेरक तत्त्व स्वराज्य और स्वधर्म के कारण उपजा था। यही भाईचारा अंग्रेजों की गर्हित कूटनीति को गहरा झटका था। क्रांति के उस वर्ष को डेढ़ सौ वर्षों बाद जिस उत्साह से याद किया गया, वह भी उस क्रांति के मूल तत्त्वों से प्रेरित है। इसलिए राष्ट्रीयता की लहर उभर रही है। राष्ट्रवादी स्वर का यह उभार उन लोगों को कैसे रास आ सकता है, जो अंग्रेजों की बौद्धिक जूठन पर पल रहे हैं। उनके गर्हित उद्देश्यों परभारत के विखण्डन के सपने परराष्ट्रवादी उभार प्रहार ही तो है।

आवश्यकता है प्रेमचन्द के समग्र मूल्यांकन की

डॉ. कुमार विमल*

अब तक प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना प्रायः खण्डित रूप में या अपूर्ण रूप में होती रही है, जबकि प्रेमचन्द-साहित्य का मूल्यांकन इन विविध पक्षोंउर्दू साहित्य में प्रेमचन्द, हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द, अन्य भारतीय भाषाओं में प्रेमचन्द, भारतेतर देशों में प्रेमचन्द, उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द, कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द, समकालीन राजनीति की पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द, दलित विमर्श की दृष्टि से प्रेमचन्द, स्त्री-विमर्श के निकष पर प्रेमचन्द, आज की भूमण्डलीय विश्वनागरिकता के सन्दर्भ में प्रेमचन्द इत्यादिसे गुजरते हुए हमें एक समग्र रूप में करना चाहिए। इतना ही नहीं, अब हमें प्रेमचन्द के कथा-साहित्य और उनके कथेतर साहित्य में व्यक्त विचारों के इतः पूर्व अध्ययन को अद्यतन, समन्त और समग्र बनाने के लिए उसका मूल्यांकन संस्कृतिक (Cultureme), अन्तःसांस्कृतिक (क्रॉस कल्चरल) बोध और अन्तर-सांस्कृतिक पर्युत्सुकता (इन्टर-कल्चरल रेस्पॉन्स) की दृष्टि से भी करना चाहिए, ताकि जो उपनिवेशवाद-विरोधी जनतान्त्रिक चेतना और सामाजिक न्याय की भावनाकलावाद और कुलीनतावाद के विरोधीप्रेमचन्द के उपन्यासों में अभिव्यक्त हुई है, उसके साथ ही यह स्पष्ट हो सके कि विश्व के अन्य कृषि-प्रधान देशों में, समाजवादी-साम्यवादी देशों में, प्रौद्योगिकी के अगुआ देशों में अथवा अन्य अफ्रेशियाई देशों में प्रेमचन्द के उपन्यास वहाँ की भाषाओं में अनूदित होकर वहाँ के पाठकों के बीच कैसी पर्युत्सुकता उत्पन्न करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तरण कोचाहे वह खुर्दबुर्द पर आधारित 'गबन' जैसा उपन्यास हो या शहरी संस्कृति के बरक्स ग्रामीण कृषक समाज की महागाथा पर आधारित 'गोदान' जैसा उपन्यासरवीन्द्रनाथ ठाकुर की कुछेक प्रचलित कृतियों की तरह, विदेशों की तद्देशीय भाषाओं में मंचित कर, यह आकलित किया जाना चाहिए कि क्रान्ति की द्वान्द्विकी (Dialectics of Revolution) से परिचित प्रेमचन्द की

* लेखक पूर्व कुलपति; पूर्व अध्यक्ष, विहार लोक-सेवा आयोग; पूर्व अध्यक्ष विहार अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड, राज्य के लब्ध साहित्यकार तथा समीक्षक हैं। पता: 96, एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-20।

कृतियाँ धुर पश्चिम, धुर पूर्व, मध्य यूरोप, अफ्रीका, कैरिबियाई द्वीप-समूह इत्यादि जैसे अन्य भू-भागों के निवासियों के बीच कैसी पर्युत्सुकता जागृत करती हैं और उत्तर भारत से भिन्न संस्कृतियों की वर्णमाला में किस तरह का 'सांस्कृतिक अन्तर्निवेशन' (इन्कल्चरेशन) पैदा करती हैं।

विगत तीन-चार दशकों में कई देशों ने उपन्यासकार प्रेमचन्द का अलग-अलग मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का रूसी (सोवियत) मूल्यांकन ब्रेस्कॉव्नी और प्रो. बालिन ने मुख्यतः प्रस्तुत किया है। सब्बरवाल द्वारा जापानी में प्रेमचन्द की रचनाओं के अनूदित होने के बाद प्रेमचन्द का मूल्यांकन जापनी आलोचकों ने किया है। इधर प्रेमचन्द का मूल्यांकन चीनी आलोचकों द्वारा भी किया गया है, जो 'चीनी समालोचकों की नजर में प्रेमचन्द' के नाम से प्रकाशित है। इस पुस्तक में चीन के भारतीय विद्याविद (इण्डोलॉजिस्ट) प्रो. ची. श्येनलिन ने तिलिस्म और मनोरंजन के घेरे से हिन्दी उपन्यास को बाहर निकालने वाले प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की गम्भीर विवेचना की है।

जैसा कि डॉ. सीगफ्रीड ए. शुल्स ने 'प्रेमचन्द : एक पाश्चात्स मूल्यांकन' में निर्दिष्ट किया है, प्रेमचन्द-साहित्य के अध्ययन-मूल्यांकन में पाश्चात्य पाठकों-आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द के जीवन-काल में कोई रुचि नहीं ली गई और प्रेमचन्द के देहान्त के बाद पाश्चात्य पाठकों-आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द-साहित्य के अध्ययन-मूल्यांकन में जो रुचि ली जा रही है, वह प्रेमचन्द के यश और लोकप्रियता को दृष्टिगत रखते हुए, पर्याप्त नहीं है। यह स्थिति अकारण पैदा नहीं हुई है, क्योंकि प्रेमचन्द न विदेश गये थे और न उन्हें अपने रचना-काल में नामी-गिरामी विदेशी प्रशंसक मिले थे। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इकबाल की तरह, इस मानी में, भाग्यशाली नहीं थे। कहने का आशय यह है कि पश्चिम में प्रेमचन्द को उतना नहीं पढ़ा गया, जितना पढ़ा जाना चाहिए था; प्रेमचन्द पर उतना नहीं लिखा गया, जितना लिखा जाना चाहिए था और उन्हें पश्चिम में उतनी लोकप्रियता नहीं मिल सकी, जितनी लोकप्रियता रवीन्द्रनाथ और इकबाल को मिली। किन्तु, अब प्रेमचन्द की कृतियों का अनुवाद पश्चिम की अनेक भाषाओं में हो चुका है, जिनमें 'गोदान' का अँग्रेजी अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है। सन् 1957 ईस्वी में 'गोदान' का अँग्रेजी अनुवाद पी. लाल और जयरतन द्वारा किया गया था और उसी वर्ष वह जैको बुक्स, मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था। तदनन्तर 'गोदान' की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हुए उसका अँग्रेजी अनुवाद, यूनेस्को के लिए, गोर्डन रोडमेल द्वारा किया गया, जो 'द गिफ्ट ऑव ए काउ' के नाम से सन् 1968 ईस्वी में ब्लूमिंगटन, इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया था।

प्रेमचन्द के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में अध्येताओं का ध्यान विदेशी कथाकारों की ओर गया है, जिनमें गोर्की हार्डी, गाल्सवर्दी, डिकेन्स और जॉर्ज इलियट उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द ने स्कूल और कॉलेज के पाठ्यक्रम में चार्ल्स डिकेन्स, जॉर्ज इलियट और गाल्सवर्दी को पढ़ा था। इनमें भी, स्वयं अपने कथनानुसार, प्रेमचन्द ने

डिकेंस को अधिक मनोयोगपूर्वक पढ़ा था। अतः डिकेंस से प्रेमचन्द का अधिक प्रभावित होना स्वाभाविक है। जर्मन आलोचक सीग्रिड ए. शुल्स ने यह एक महत्वपूर्ण बात कही है कि प्रभाव, प्रेरणा और समानता की दृष्टि से यद्यपि प्रेमचन्द, उस युग की साहित्य-चर्चा के रुख को दृष्टिगत रखते हुए, अपने लेखन पर लियो तोलस्तोय, विक्टर ह्यूगो, रोम्या रोलाँ, मैक्सिम गोर्की और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव का उल्लेख किया करते थे, तथापि वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द पर चार्ल्स डिकेंस का प्रभाव अधिक था। विशेषकर, 'गोदान' की संरचनात्मक विशेषताएँ चार्ल्स डिकेंस के कुछ उपन्यासों की संरचनात्मक विशेषताओं से अपेक्षाकृत अधिक साम्य रखती हैं।

यह प्रकट है कि प्रेमचन्द ने महात्मा गांधी के साहित्य को पढ़ा था और वे महात्मा गांधी से प्रभावित हुए थे। तभी तो उन्होंने नौकरी से त्याग-पत्र दिया था और गोरखपुर के चौराहे पर बैठकर उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान के अनुसार चरखा चलाना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु, अब तक यह सुनिश्चित करना बाकी है कि प्रेमचन्द ने कार्ल मार्क्स की कृतियों को कभी पूर्णतः या अंशतः पढ़ा था अथवा नहीं।

प्रेमचन्द, सचमुच ही, हिन्दी कथा-साहित्य की बगिया में 'बहारे रंग-बू' थे। 'जमाना' के प्रेमचन्द-नम्बर (सन् 1937 ईस्वी) में प्रेमचन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए गंगाधर नाथ 'फरहत' कानपुरी ने प्रेमचन्द के बारे में उचित ही लिखा था

प्यारे प्यारे चुस्त फिकरे, भोली-भाली गुफ्तगू।

बागे अफसाना-निगारी में बहारे रंग-बू।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि उपन्यास-लेखन प्रेमचन्द का 'First love' नहीं था। यह श्रेय उनके कहानी-लेखन को प्राप्त है। उन्होंने अपनी साहित्य-सर्जना 'कहानी'-लेखन से प्रारम्भ की थी 'उपन्यास'-लेखन से नहीं। ज्ञातव्य है कि प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन सन् 1901 ईस्वी से, इक्कीस साल की उम्र में, प्रारम्भ किया था। 'असरारे मआविद' (देवस्थान-रहस्य) प्रेमचन्द का सबसे पहला उपन्यास माना जाता है, जो उर्दू के एक पुराने साप्ताहिक (आवाज-ए-खल्क) में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'असरारे मआविद' के अलावा 'हमखुर्मा व हमसबाब', 'प्रेमा' और 'रूठी रानी', विशेष रूप से, उल्लेखनीय हैं। इनमें 'प्रेमा' का उपशीर्षक था 'दो सखियों का विवाह'। यह उपन्यास इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् 1907 ईस्वी में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था, जिसका मूल्य था मात्र दस आना और जिसके लेखक का नाम थाबाबू नवाब राय बनारसी। यानी सन् 1907 ईस्वी तक धनपत राय (नवाब राय) 'प्रेमचन्द' के नाम से साहित्य-जगत् में प्रविष्ट नहीं हुए थे। कहा जाता है कि धनपत राय श्रीवास्तव को यह 'प्रेमचन्द' नाम उर्दू-लेखक-सम्पादक दयानारायन निगम द्वारा दिया गया था।

एक उपन्यासकार एक 'मशहूर व मकबूल मजमून निगार' के रूप में प्रेमचन्द, रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से, व्यवस्थित और जवाबदेह रचनाकार थे; कारण, वे रचना

प्रारम्भ करने के पहले उसकी संक्षिप्त 'रूपरेखा' ('सिनॉप्सिस') बना लिया करते थे। यह 'सिनॉप्सिस' बना लेने की प्रवृत्ति रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और द्योतित करती है कि लेखक के रूप में प्रेमचन्द एक व्यवस्थित, अन्तः संकलित तथा सुलझे हुए लेखक थे। 'सिनॉप्सिस' बनाकर रचना-कार्य प्रारम्भ करने के इस अभ्यास से यह भी लक्षित होता है कि वे कथा-कलन, कथावस्तु के निर्माण, घटनाओं के विन्यास और पात्रों के चरित्र-विकास तथा कृति के निष्कर्ष-सह-सन्देश पर विशेष ध्यान देते थे। वे आनन-फानन में या अविचारित-अपक्व ढंग से किसी कथा-कृति को लिख देने के हिमायती नहीं थे। प्रेमचन्द ने रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प और गोदानइन सभी उपन्यासों की 'रूपरेखा' पहले बना ली थी। यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि उनकी कृतियों की अधिकांश 'रूपरेखाएँ' अँग्रेजी में लिखित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा की दृष्टि से व्यवहार के धरातल पर; घोषणा या जाहिरा बयान के तौर पर नहीं-हिन्दी वस्तुतः उनकी तीसरी पसन्द की भाषा थी। उनकी पहली पसन्द की भाषास्वाभाविक अभिव्यक्ति की भाषा उर्दू थी और उनकी दूसरी पसन्द की भाषालिखा-पढ़ी की भाषा अँग्रेजी थी। यह बात इससे भी साबित होती है कि वे अपनी डायरी अँग्रेजी में लिखा करते थे।

'केरियर' की दृष्टि से महत्वाकांक्षी प्रेमचन्द 'उर्दू की सेवकाई' (ये शब्द स्वयं प्रेमचन्द के हैं) करते-करते व्यापक पाठक-वर्ग के लिए अपनी कृतियों के अधिक विक्रय हेतु बड़े बाजार के लिए हिन्दी-लेखन के क्षेत्र में आए थे। उन्होंने स्वयं कबूल किया है कि बचपन में फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू उनके लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं।

यह खेद का विषय है कि अब तक प्रेमचन्द के पाठकों और आलोचकों ने प्रेमचन्द के सम्पूर्ण रचना-संसार को अच्छी तरह नहीं जाना है। शायद, 'मुकम्मल' प्रेमचन्द को जानना अभी बाकी है। प्रोफेसर गोपीचन्द नारंग ने 'अफसाना निगार प्रेमचन्द' शीर्षक निबन्ध में यह उचित मंतव्य व्यक्त किया है कि "ज्यादातर हिन्दीवाले उर्दू प्रेमचन्द से नावाकिफ हैं और ज्यादातर उर्दू वाले हिन्दी प्रेमचन्द से कोई दिलचस्पी नहीं रखते।...लोगों ने प्रेमचन्द को टुकड़े-टुकड़े कर रखा है और उसके हिस्से बाँट लिए हैं।"

उर्दू के उपन्यासकारों और अफसाना निगारों में प्रेमचन्द की तुलना नजीर अहमद, सरशार और शरर के साथ की जाती रही है। डॉ. कमर रईस ने 'प्रेमचन्द का तनकीदी मुताला 'शीर्षक लेख में लिखा है "प्रेमचन्द ने नजीर अहमद, सरशार और शरर की रवायत को न सिर्फ आगे बढ़ाया, बल्कि उन्हें उसयत, मानवियत और गहराई अता की। नजीर अहमद की मकसदियत, सरशार की उसअते नजर और शरर की मंजरकशी और शादूस्ता जुबान प्रेमचन्द के नाँवेलों में अपनी इन्तहाई तरक्की-पजीर और निखरी हुई सूरत में मिलती है।" विशेषकर उर्दू के प्रगतिशील आलोचकों ने

प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की खुले दिल से तारीफ की है। 'प्रेमचन्द : फिफ्रो फन' में डॉ. कमर रईस ने ही प्रेमचन्द की प्रशंसा में निष्कर्ष रूप में जो लिखा है, वह खासकर हिन्दी पाठकों के लिए पठनीय है 'वाकया यह है कि प्रेमचन्द ने अपने फन के जरिए न सिर्फ हिन्दुस्तान की बुनियादी सचाइयों तक रिसाई हासिल की बल्के हिन्दुस्तानी अदब को एक ऐसे जमालियाती मजाक (taste) से रू-शिनास कराया, जो फन की आलातरीन कदरों से हमाहंग है'।

हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के उपन्यासकारों के साथ प्रेमचन्द के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि प्रेमचन्द ने किसी राजनीतिक मतवाद के प्रति बावस्तगी (प्रतिबद्धता) रखते हुए 'गोदान' की रचना नहीं की थी। शायद, इसी कारण 'गोदान' के कथानक में एक खुलापन और उसके स्थापत्यगत संरचनात्मक शिल्प में एक प्रसरणशील लोच है, जिसने विभिन्न भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ उपन्यासों के साथ 'गोदान' के तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्वार खोल दिया है। उन्नाव लक्ष्मी नारायण रचित 'मालपल्लि' (तेलुगु1935), अडिवि बापिराजु कृत 'नरूडु' (तेलुगु1937), आगरकर के सामाजिक विचारों से प्रभावित हरिभाऊ आपटे कृत 'मघली स्थिति' (मराठी1885), विष्णु सखाराम खाण्डेकर कृत 'उल्का' (मराठी उपन्यास), रमणलाल बसंतलाल देसाई कृत 'ग्रामलक्ष्मी' (गुजराती), शिवराम कारंत रचित 'मरलि मन्निगे' (कन्नड़) इत्यादि के साथ प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अनुसंधाता अघा नहीं रहे हैं। अब भी पंजाबी के नानक सिंह, मलयालम के तक्ष्पी शिवशंकर पिल्लै, बाँग्ला के शरच्चन्द्र और ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, उड़िया के फकीर मोहन, 'तेलुगु' के गोपीचन्द, गुजराती के पन्नालाल पटेल इत्यादि की कथा-कृतियों के साथ प्रेमचन्द की कथा-कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन जारी है। मुल्कराज आनन्द के उपन्यास 'द विलेज' (1939) और विभूति भूषण बन्द्योपाध्याय के उपन्यास 'पथेर पांचाली' (1929) के साथ भी प्रेमचन्द के ग्रामभित्तिक उपन्यासों की तुलना की जा सकती है। प्रेमचन्द की कहानियाँ भी ऐसे तुलनात्मक अध्ययन के लिए हमें आकृष्ट करती हैं। जैसे, प्रेमचन्द की 'दो बैलों की कथा' शीर्षक कहानी (हंस, अक्टूबर, 1931 ई. में प्रकाशित) और शरत्चन्द्र की कहानी 'महेश' (बाँग्ला) में बैलों के स्वभाव और मनोविज्ञान का ऐसा मार्मिक चित्रण मिलता है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। इसी तरह उत्तर प्रदेश के निवासी प्रेमचन्द की 'सवा सेर गेहूँ' शीर्षक कहानी (चाँद, नवम्बर, 1924 ईस्वी में प्रकाशित) और केरल के कुट्टुनाडु इलाके के पुन्नप्रा और बयलार जैसे समुद्रतटीय गाँवों की दलदली धनहर भूमि से सुपरिचित तक्ष्पी शिवशंकर पिल्लै रचित 'दो सेर धान' शीर्षक उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन रोचक है। ये दो कृतियाँ इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि श्रेष्ठ साहित्यकार किसी भी देश-प्रदेश का हो, उसकी रचनाएँ उसके इलाके की धरती और अन्न-पानी से रागात्मक लगाव रखती हैं।

सामाजिक परिवर्तनों के 'प्रोत्साहक' ('प्रोमोटर') प्रेमचन्द खेतिहर समाज के बहुत बड़े चितरे थे, जिसकी विस्तृत पटभूमिका हमें 'गोदान' में मिलती है। महात्मा गांधी ने सन् 1917 ईस्वी में चम्पारन की यात्रा कर रैयतों के हक में जो 'चम्पारन एग्रेसियन ऐक्ट' (1917 ई.) बनवाया और उसके बाद भारत में जो कई महत्वपूर्ण किसान-आन्दोलनचम्पारन का किसान-आन्दोलन (1917 ई.), खेड़ा-सत्याग्रह (1918 ई.), मोपला-विद्रोह (1921 ई.) और बारडोली-सत्याग्रह (1928 ई.) घटित हुए, उन्हें प्रेमचन्द ने गौर से देखा-परखा था। महात्मा गांधी की तरह वे भी इस धारणा से सहमत नहीं थे कि केवल सर्वहारा ही (ग्रामीण, शहरी या कस्बाती 'रूर-अर्बन' सर्वहारा ही) क्रान्ति का सच्चा संदेशवाहक और पदातिक हो सकता है; बल्कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषक और खेत-मजदूर स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा सामाजिक परिवर्तन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। विश्व के इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। जर्मन शासन के विरुद्ध जब चेक-जाति ने चेकोस्लोवाकिया में विद्रोह किया था, तब उस विद्रोह को प्रभावी बनाने के लिए यान हुस (Jan Hus) ने उसे कृषकों की क्रान्ति का ही रूप दिया था। यान हुस के अनुगन्ता क्रान्तिकारियों ने कृषि-सम्बन्धी औजारों से अपनी वह क्रान्ति चलाई थी, जो 'बैट्ल ऑव द ह्वाइट माउन्टेन्स' (सन् 1620 ई.) के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। इसी तरह पूर्वी अफ्रीका के कृषि-प्रधान देश केन्या में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रारम्भ किए गए स्वतन्त्रता-संग्राम में कृषकों ने अग्रचारी भूमिका अदा की थी। केन्या का यह सशस्त्र किसान-आन्दोलन 'माऊ-माऊ' आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। कहने का आशय यह है कि प्रेमचन्द ने गाँधी युगीन किसान-जागरण, अवध-आन्दोलन, बाबा रामचन्द्र और सहजानन्द सरस्वती द्वारा रेखांकित तत्कालीन कृषक-समस्या, किसानों के मनोभाव और उनकी ऋणग्रस्तता को 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' जैसी औपन्यासिक कृतियों के साथ ही अपनी दर्जनों कहानियों में एक विशाल फलक प्रदान किया है।

विभिन्न क्रान्तियों के इतिहास के अध्ययन से यह प्रकट होता है, कि बड़े-बड़े आन्दोलनों और क्रान्तियों का सम्बन्ध प्रायः नमक-कानून से हुआ करता है। यह लक्ष्य करने योग्य है कि जिस नमक (नमक-कानून के विरोध) को महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय जागरण से जोड़ा और साबरमती आश्रम से 12 मार्च, 1930 को प्रस्थान कर 24 दिनों में पाँव-पैदल दाण्डी यात्रा पूरी की तथा 6 अप्रैल, 1930 ईस्वी को नमक-आन्दोलन प्रारम्भ किया, उसी नमक के सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने सन् 1913 ईस्वी में 'नमक का दारोगा' शीर्षक कहानी उर्दू में लिखी थी, जो पहले 'हमदर्द' पत्रिका के अक्टूबर, 1913 ईस्वी के अंक में प्रकाशित हुई थी और बाद में 'प्रेमपचीसी' (उर्दू) में उसी वर्ष संकलित की गई थी। यह तथ्य जानने योग्य है कि सन् 1789 ईस्वी में घटित फ्रांस की

राज्य-क्रान्ति का भी एक जबरदस्त मुद्दा फ्रांस के तत्कालीन नमक-कानून 'GABELLE'—के विरोध से जुड़ा हुआ था।

लोकश्रयी राजनीति के पक्षधर और सामाजिक यथास्थितिवाद तथा वर्णाश्रमवाद के विरोधी ('असहमत विद्रोही') प्रेमचन्द को इस देश के परम्परागत संस्त्रीकरण से उपजी हुई जातिगत संरचना और उसके 'पिरामिड' में रक्षित गैर-बराबरी का Class, Caste और Classte कागहरा बोध था। किन्तु, इस गहरे बोध के बावजूद प्रेमचन्द अपने युग के दलित-पीड़न को वैसे ही पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सके, जैसे उनके घीसू और माधव सम्पूर्ण 'दलित आक्रोश' को तल्लू के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सके। प्रेमचन्द के जन्म-काल यानी सन् 1880 ईस्वी से लगभग दस साल पहले ज्योतिराव फुले की दो आधारभूत पुस्तकें 'गुलाम गिरी' और 'सत्सार इशारा' प्रकाशित हो चुकी थीं तथा प्रेमचन्द के मृत्यु-वर्ष यानी सन् 1936 ईस्वी से लगभग चार-पाँच साल पहले साइमन कमीशन की अनुशंसा के उपरान्त, सन् 1932 ईस्वी में 'कम्युनल एवार्ड' और 'पूना पैक्ट' लागू हो चुके थे तथा महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर के बीच यर्वदा-समझौता हो चुका था। इतना ही नहीं, 8 अगस्त, सन् 1930 ईस्वी को नागपुर में अखिल भारतीय दलित वर्ग कांग्रेस के जिस अधिवेशन की अध्यक्षता डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने की थी, उस अधिवेशन में ज्योतिराव फुले, पेरियार, गाडगे इत्यादि की सामाजिक क्रान्ति-धारणा के अनुरूप दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल और सरकारी नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित हो चुके थे। किन्तु, इन विचारधाराओं और घटनाओं के आलबाल में तत्कालीन भारत में सामाजिक यथार्थ के जो नए दल खुल रहे थे, उस सामाजिक यथार्थ में जो ऊष्मा आ रही थी, उसका उत्पाद उस रूप में प्रेमचन्द के जीवन्त साहित्य में बहुतांश को महसूस नहीं होता। 'गोदान' की ग्रामीण पृष्ठभूमि की कथा में उपान्त खेतिहर या श्रमिक खेतिहर की श्रेणी में आनेवाले होरी, धनिया, हीरा, गोबर, पुनिया, मथुरा और रामसेवक जैसे कुरमी; भोला, झुनिया, नोहरी और जंगी जैसे अहीर तथा सिलिया और हरखू जैसे चमार भले ही शोषित-दलित समुदाय के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हों; किन्तु, उससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि प्रेमचन्द को दलित विमर्श और दलित-आक्रोश की दिशा पूरी तरह मालूम थी। शायद, प्रेमचन्द को इसकी स्पष्ट अवगति नहीं थी कि सामाजिक गैर-बराबरी केवल अस्पृश्यता तक सीमित नहीं है; बल्कि सामाजिक गैर-बराबरी के दायरे में सत्ता की भागीदारी की असमानता, विकास-कार्यों के लाभांशों के वितरण में असमानता, सम्मान देने और पाने में असमानता, सुविधाओं के वितरण में असमानता और ऐसी कई असमानताएँ शामिल हैं।

इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द (अपने) 'समय' के साथ थे। किन्तु वे (अपने) 'समय' से 'आगे' नहीं थे। इसलिए वे ऐसे 'क्लासिक्स'; की रचना नहीं कर सके, जो आनेवाले युगों में भी पूरी तरह 'समकालीन', 'समसामयिक' और सार्थक बना रहता है तथा आनेवाले युगों को सही दिशा देता है। अपने समय के साथ रहने के साथ ही

अपने समय से आगे रहने वाला रचनाकार अपनी कृतियों के माध्यम से भविष्य को देखने की शक्ति हासिल कर लेता है।

प्रेमचन्द का कुल रचना-काल केवल 35 वर्षों का था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने 21 वर्ष की उम्र से यानि सन् 1901 ईस्वी से लिखना प्रारम्भ किया था और उन्होंने सन् 1936 ईस्वी तक यानी अपने मृत्यु-वर्ष तक लेखन-कार्य जारी रखा था। इन 25 वर्षों में लगभग एक साल के लिए वे 'अजन्ता सिनेटोन' और 'महालक्ष्मी सिनेटोन' से जुड़कर फिल्म-जगत का काम करने के लिए बम्बई चले गए थे। इस प्रकार बम्बई-प्रवास के इस एक वर्ष को घटा देने के बाद उनका वास्तविक रचना-काल कुल 34 वर्षों का रह जाता है। इन 34 वर्षों में भी यदि उनके उर्दू-लेखन के लिए 4-5 साल ही रखे जाएँ, तो उनके हिन्दी लेखन-कार्य के लिए सिर्फ 29-30 साल ही शेष रह जाते हैं। इस तरह कुल 29-30 वर्षों की अवधि में हिन्दी में इतना विपुल साहित्य लिख लेना आसान काम नहीं है। पाश्चात्य कथा-साहित्य के जानकारों का कहना है कि बाल्जक (Honore de Balzac) की मृत्यु यद्यपि 51 साल की उम्र में ही सन् 1850 ईस्वी में हो गई, तथापि उसने कुल 20 वर्षों की रचना-अवधि में अपनी अदम्य ऊर्जा शक्ति के सहारे 85 उपन्यास लिखे और लगभग दो हजार चरित्रों (Characters) का निर्माण किया। इस प्रकार रचनात्मक ऊर्जा की दृष्टि से प्रेमचन्द की तुलना बाल्जक के साथ की जा सकती है।

'गोदान' का प्रकाशन सन् 1936 ईस्वी में 'कामायनी' के प्रकाशन से लगभग सात-आठ महीने पहले हुआ था। यह दुखद संयोग है कि 'गोदान' के प्रकाशन के कुछ ही महीने बाद प्रेमचन्द का निधन हो गया और 'कामायनी' के छपने के कुछ ही महीने बाद प्रसाद की मृत्यु हो गई। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक दारुण दुखान्तकी है कि प्रेमचन्द का देहान्त कुल 56 साल की उम्र में हो गया और प्रसाद का देहान्त सिर्फ 48 साल की उम्र में हो गया। अनेक आलोचक, विचारक और प्रशंसक प्रेमचन्द को 'भारत का गोकर्ण' या 'भारत का लू श्युन' कहा करते हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि इन तीनों महान लेखकों-गोकर्ण, प्रेमचन्द और लू श्युन का निधन सन् 1936 ईस्वी में ही हुआ, जबकि उनका जन्म-वर्ष एक नहीं-अलग-अलग था।

इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि जो लेखक लेखन-कार्य को अपनी जीविका का आधार बना लेते हैं, उनके द्वारा लिखा गया साहित्य समान्यतः उच्चस्तरीय नहीं होता। यदि कबीर, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि ने अपने सृजन या लेखन को अपनी जीविका का साधन या धनार्जन का माध्यम बनाया होता, तो उनके द्वारा सृजित साहित्य की उच्चस्तरीयता निश्चय ही बाधित होती।

प्रेमचन्द कथाकार थेकोई महान दार्शनिक या चिन्तक नहीं। तथापि उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की एक नवीन धारणा प्रवर्तित की। उनका 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' पश्चिमी दुनिया के लिए एक नया विभावन था। पश्चिमी दुनिया 'आदर्शवाद'

से और 'यथार्थवाद' से परिचित थी। किन्तु, दोनों के इस नए मिश्रण, घोल या आसवन 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' से वह अपरिचित थी।

देश-विदेश के उपन्यास-साहित्य या विश्व के नक्शे में उपन्यास-साहित्य के फलक पर प्रेमचन्द का मूल्यांकन कुछ-कुछ मिहिकाच्छन्न मालूम पड़ता है। जिस समय प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास-साहित्य को तिलिस्म और सस्ते मनोरंजन की सीमा से बाहर निकालने या ऊपर उठाने की चेष्टा कर रहे थे, उसके बहुत पूर्व ही प्रेमचन्द के जन्म-वर्ष से भी पूर्वपश्चिमी साहित्य में उपन्यास की विधा बहुत विकसित और प्रतिष्ठित हो गई थी। ठीक प्रेमचन्द के जन्म-वर्ष यानी सन् 1880 ईस्वी में 27 मार्च को एमिल जोला के उपन्यास 'नाना' (NANA) का लोकार्पण पेरिस में किया गया था, जिसकी पचपन हजार प्रतियाँ उसी दिन जोला के प्रकाशक शार्पेन्तिये (Charpentier) के कथानुसार बिक गई थीं। अनेक कारणों से हिन्दी के उपन्यास-सम्राट (!) प्रेमचन्द के किसी उपन्यास को ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

प्रेमचन्द द्वारा लिखित उद्बोधक शब्द-चित्रों में एक शब्द-चित्र है 'स्वामी विवेकानन्द', जो प्रेमचन्द की घोर भारतीयता (इण्डियननेस) और हिन्दुत्व की भावना को व्यक्त करता है। प्रेमचन्द के जो प्रशंसक उन्हें कभी-कभी नास्तिक और कट्टर धर्मनिरपेक्षतावादी (सेकुलर) कह देते हैं, उन्हें अपनी मान्यता को नम्र बनाने के लिए प्रेमचन्द का यह 'स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक शब्द-चित्र अवश्य पढ़ना चाहिए। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द की 'जिहाद' शीर्षक कहानी भी पठनीय है।

मूल्यांकन की दृष्टि से हम कह सकते हैं, कि प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं, भारतीय कथा-साहित्य में वे प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार हैं और विश्व के कथा-साहित्य में वे उच्च द्वितीय श्रेणी के उपन्यासकार हैं।

प्रेमचंद तेलुगु साहित्य जगत में

डॉ. विजयराघव रेड्डी*

साहित्य जगत में कुछ ही ऐसे रचनाकार होते हैं, जो मात्र अपने प्रदेश के न होकर सार्वदेशिक होते हैं, सारे विश्व के भी होते हैं। वे केवल अपनी भाषा के ही नहीं होते, बल्कि सार्वभाषिक या सभी भाषाओं के साहित्यकार माने जाते हैं। प्रेमचंद ऐसे साहित्यकार हैं, जो जन्म के 125 वर्ष बीत जाने पर भी और उनके गुजरे 70 वर्ष हो जाने के बावजूद याद किये जाते हैं। आज ही नहीं, जब तक हिंदी एवं उर्दू साहित्य जीवित रहेगा तब तक वे साहित्य जगत में जीवित रहेंगे। इसमें कोई शक नहीं। प्रेमचंद का जन्म भले ही भारत के उत्तर प्रदेश में हुआ हो, उनके रचनाकार अपने प्रदेश की सीमाओं को लाँघकर देश के क्या उत्तर, क्या दक्षिण, क्या पश्चिम, क्या पूरब सभी दिशाओं के प्रदेशों में समादृत होते हैं; और इस प्रकार सार्वदेशिक साहित्यकार हो जाते हैं। और फिर देश कूच कर सारे विश्व में पहुँच जाते हैं। विश्व साहित्यकार बन जाते हैं। यही बात भाषा के बारे में भी है। वे मात्र हिंदी और उर्दू के साहित्यकार नहीं हैं। भारत की सभी भाषाओं में प्रेमचंद विद्यमान हैं। भारत की भाषाओं में ही नहीं, अपितु प्रमुख विदेशी भाषाओं में उनका साहित्य चाव से पढ़ा जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत की मुख्यधारा के साहित्य में ही नहीं, सुदूरवर्ती पूर्वोत्तर की भाषाओं; जैसे मणिपुरी, नेपाली एवं बोडो भाषाओं में उनके साहित्य का अनुवाद हुआ है।

यह सही है कि अगर किसी हिंदी रचनाकार के सर्वाधिक साहित्य का अनुवाद दूसरी भारतीय भाषाओं में हुआ तो वे प्रेमचंद ही हैं। अगर किसी हिंदी रचनाकार को लेकर दूसरी भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक विवेचन व शोध कार्य हुआ हो तो वे प्रेमचंद हैं। अगर किसी रचनाकार के साहित्य को दूसरे प्रदेशों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित करने की अपरिहार्य अनिवार्यता महसूस की जाती हो तो वे हैं प्रेमचंद।

जहाँ तक तेलुगु भाषा और साहित्य में प्रेमचंद के स्थान का प्रश्न है, हमें अपने मानस पटल पर इस बात को अंकित कर लेना चाहिए कि पिछली सदी के तीसरे एवं

* डॉ. विजयराघव रेड्डी, पूर्व आचार्य: केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा; पूर्व अध्यक्ष: आंध्रप्रदेश हिंदी अकादमी, हैदराबाद।

चौथे दशक में तेलुगु पाठक समुदाय यह समझता था कि प्रेमचंद तेलुगुभाषी हैं और उन्होंने तेलुगु भाषा में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इसके दो कारण हो सकते हैं एक उस नवजागरण काल की परिस्थितियों का हिंदीभाषी एवं तेलुगुभाषी दोनों इलाकों में समान होना और दो पाठकों को अनूदित रचनाएँ अनूदित न लग कर मौलिक लगना। भारतीय पारंपरिक नैतिक मूल्यों में हास के कारण उन पर लगे प्रश्न चिह्नों के संदर्भ में मानव मूल्यों की पुनर्रचना करना नवजागरण काल की माँग रही। उस युग की माँग के अनुसार प्रेमचंद तथा उनके समय के इतर भारतीय भाषाओं के बुद्धिजीवी रचनाकार बने। उनके लिए स्वतंत्रता प्राप्ति, समाज कल्याण, भाषा का अभ्युत्थान व साहित्य का निर्माण तथा उसके द्वारा जनता में जागरण फूँकना आदि अलग-अलग न होकर एक ही कार्य के समन्वित रूप थे। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का स्पष्ट विश्लेषण किया था। “चारों ओर मुँह बाएँ खड़ी समस्याओं ने जैसे, पराधीनता, जमींदारी प्रथा की दुरवस्था, पूँजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज प्रथा, नारी की समाज में दयनीय स्थिति, वेश्याओं की जिंदगी, बेमेल विवाह, सांप्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यम वर्ग की कुंठाएँ आदि ने प्रेमचंद को उपन्यास लेखन को बाध्य किया था।”¹

“करीब करीब तेलुगु भाषी जनता भी इन्हीं समस्याओं से जूझ रही थी। इस लिए यहाँ के पाठकों ने उन्हें न केवल चाव से पढ़ा, यहाँ तक कि कुछ ने तो उन्हें तेलुगु के रचनाकार समझ रखा था।”² पाठकों को प्रेमचंद की अनूदित रचनाएँ अनूदित न लगकर मौलिक लगने के पीछे बड़ा कारण यह था कि आजादी से पूर्व तक भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवाद की जो प्रक्रिया रही, वह यह थी कि दूसरी भाषाओं से रचनाओं को अपनी मातृभाषा में अनुवाद कर लेना। अर्थात् अनुवाद में लक्ष्य भाषा मातृभाषा हुआ करती थी। यहाँ हिंदी स्रोत भाषा और तेलुगु लक्ष्य भाषा रहती थी।

प्राप्त जानकारी के अनुसार प्रेमचंद के 14 उपन्यासों में से 10 और 500 (हिंदी में 300 एवं उर्दू में 200) कहानियों में से अधिसंख्यक कहानियाँ तेलुगु में अनूदित हैं। ‘सेवासदन’ का प्रकाशन 1918 में हुआ है। उसका तेलुगु अनुवाद 1932 में ही अर्थात् मूल के छपने के 14 वर्षों के बाद ही हुआ। अनुवाद करनेवाली दो महिलाएँ हैं। सेवासदन के दूसरे व्यक्ति के द्वारा किया गया अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। एक उपन्यास का दूसरी भाषा में सामान्यतः एक ही अनुवाद प्राप्त होता है। लेकिन प्रेमचंद के तेलुगु में अनूदित उपन्यासों के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ एक-एक उपन्यास के दो-दो और तीन-तीन अलग-अलग अनुवाद हुए हैं। जहाँ तक मुद्रणों की बात है, एक-एक अनुवाद के 5-6 तक पुनर्मुद्रण हुए हैं। ये अनूदित उपन्यास आज भी पुस्तकों की दुकानों में बिक्री के लिए उपलब्ध हैं और खरीदे जाते हैं। प्रेमचंद की 125वीं जयंती के अवसर पर तेलुगु की प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्था विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस बाजार

में अनुपलब्ध अनूदित उपन्यासों, कहानियों एवं अन्य रचनाओं को पुनः प्रकाशित करने की योजना बनाकर प्रकाशित कर रही है।

“सन् 1918 में प्रकाशित ‘सेवासदन’ उपन्यास का अनुवाद दो महिलाओंदोमर्ल भ्रमरांबा और कोंडा विजयलक्ष्मी बाई ने किया था और सन् 1932 में एस.जी. मंडली, राजमंड्री ने उसे प्रकाशित किया था। इसी उपन्यास का एक अन्य प्रकाशन ‘प्रेमचंद पब्लिकेशन्स’ विजयवाड़ा ने सन् 1960 में और 1963 में उसे पुनः प्रकाशित किया, जिसका अनुवाद एन.वी. सोमयाजुलु ने किया था। इसी प्रकार ‘गोदान’ को भी दो भिन्न प्रकाशनों ने अलग-अलग अनुवादकों द्वारा अनुवाद करा कर प्रकाशित किया।”³

तेलुगु में अनूदित प्रेमचंद के उपन्यासों से संबंधित ये सूचनाएँ डॉ. पी.सी. नरसा रेड्डी की आधुनिक तेलुगु साहित्य, पुस्तक की पृष्ठ संख्या 103 में से ली गयी हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि प्रथम बार तेलुगु में प्रेमचंद के उपन्यासों को लाने का श्रेय दो महिलाओं को मिला और वह उपन्यास है ‘सेवासदन’, जो वेश्या समस्या पर लिखा गया है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि प्रेमचंद के तेलुगु में अनूदित उपन्यासों को प्रकाशित करने वाली एक संस्था ने अपना नाम प्रेमचंद पब्लिकेशन्स रख लिया है।

प्रेमचंद के 14 निबंधों का अनुवाद विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस ने 1966 में प्रकाशित किया है ‘प्रेमचंद साहित्य व्यासालु’ नाम से। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण 1988 में हुआ है। निबंधों के अनूदित नाम क्रमशः इस प्रकार हैं। साहित्यमु-उद्देश्यमु, 2. जीवितमु-साहित्यमु, 3. साहित्यानिक-आधारमु, 4. कथा-रचना, 5. नवला रचना, 6. नवला-विषय सेकरण, 7. साहित्यमु-ज्ञानवादमु, 8. साहित्यमु आस्तिक, नास्तिक वादालु, 9. साहित्यमु-विमर्श, 10. साहित्यमु-मनोविज्ञानमु, 11. साहित्यमु-नूतनप्रवृत्तुलु, 12. साहित्यमु-सिनिमालु, 13. सिनिमालु-जीवितालु और 14. साहित्यमु-सहकारमु। पुस्तक के शुरू में प्रकाशकों ने अपने ‘वक्तव्य’ में लिखा है कि साहित्य के उद्देश्य एवं प्रयोजन के बारे में प्रेमचंद ने इन निबंधों में विस्तार से, तार्किकता से एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोण से चर्चा की है। हम आशा करते हैं कि साहित्यकारों एवं साहित्य के समालोचकों को मार्गदर्शक के रूप में काम में आनेवाली इस पुस्तक का समादर तेलुगु पाठक समुदाय करेगा।

शिवरानी देवी की कृति ‘प्रेमचंद घर में’ का तेलुगु अनुवाद तेलुगु की प्रसिद्ध उपन्यासकार वासिरेड्डी सीतादेवी ने किया, जिसे विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस ने ‘प्रेमचंद जीवितमु’ नाम से प्रकाशित किया। इस का दूसरा संस्करण भी शीघ्र आ रहा है। वासिरेड्डी सीतादेवी ने ही प्रेमचंद के उपन्यास ‘कायाकल्प’ का अनुवाद किया जिसे विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस ने 1964 में प्रकाशित किया, जो इस समय पुनः प्रकाशित हो रहा है।

तुलनात्मक साहित्य शोध के अंतर्गत आंध्र प्रदेश के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में प्रेमचंद तथा समान धर्मा तेलुगु रचनाकारों; उनके उपन्यासों, उनकी

कहानियों, एवं उनकी रचनाओं की कथावस्तु व पात्रों को लेकर एक दर्जन तक शोध कार्य संपन्न हुए हैं। जैसे; प्रेमचंद और समकालीन तेलुगु साहित्यकार उस्मानिया विश्वविद्यालय (1969), प्रेमचंद तथा गोपीचंद का तुलनात्मक अध्ययन आंध्र विश्वविद्यालय (1974), प्रेमचंद और रावूरि भरद्वाज की कहानियों में गरीबी हैदराबाद विश्वविद्यालय (1988), प्रेमचंद और गोपीचंद के उपन्यासों में सामाजिक चेतना: एक तुलनात्मक अध्ययन दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा (1989)।

सामान्यतः यह देखा गया है कि हिंदी और तेलुगु साहित्यों का तुलनात्मक शोध कार्य हिंदी विभागों में किया जाता है और वह भी हिंदी में। लेकिन इस प्रकार का शोध कार्य हिंदी से इतर भाषा विभागों में विरले ही होता है। प्रेमचंद ही एकमात्र ऐसे रचनाकार हैं, जिनके साथ किसी तेलुगु रचनाकार की **तुलना विश्वविद्यालयों के तेलुगु विभागों में तेलुगु में की गई है**। जैसे; प्रेमचंद: गोदान अनुवादम्: ओक परिशीलन मद्रास विश्वविद्यालय (1955), मालपल्ली-गोदान: नवलुल तुलनात्मक परिशीलन उस्मानिया विश्वविद्यालय (1986), प्रेमचंद-इनाक चिन्न कथलु: तुलनात्मक अध्ययनम् तेलुगु विश्वविद्यालय (1995)।

1922 में प्रकाशित उन्नव लक्ष्मीनारायण (1877-1958) के तेलुगु उपन्यास 'मालपल्ली' (आंध्र के अस्पृश्यों की एक जाति का गाँव) और 1936 में प्रकाशित प्रेमचंद (1880-1936) के 'गोदान' में अभूतपूर्व साम्य है। 'मालपल्ली' और 'गोदान' उपन्यासों की तुलना करते हुए शोधार्थी ननुमास स्वामी ने प्रस्तावना में लिखा कि 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' वाली उक्ति को अगर किसी साहित्यकार ने प्रमाणित किया तो वह है हिंदी में प्रेमचंद और तेलुगु में उन्नव लक्ष्मीनारायण। दोनों ने अपने समय के भूस्वामी व जमींदारों के अमानुषिक कार्य, कुल व वर्ग भेद, अस्पृश्यता, आर्थिक विषमता आदि का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। 1922 में प्रकाशित 'मालपल्ली' और 1936 प्रकाशित 'गोदान' ने जनता में अधिक ख्याति अर्जित की है। 20वीं शती के दूसरे दशक में मार्क्स के सिद्धांतों से प्रभावित होकर रचना करनेवालों में हमारे देश के दो ही प्रथम पुरोध साहित्यकार रहे हैं। वे हैं तेलुगु में उन्नव लक्ष्मीनारायण और हिंदी में प्रेमचंद। 'मालपल्ली' और 'गोदान' इन दोनों उपन्यासों में इतिवृत्त की समानता तो है ही, साथ ही पात्रों में भी बहुत समानता है। इसलिए चौधरय्या-रायसाहेब, रामदासु-होरी, मालक्ष्मी-धनिया, संगदासु-गोबर की तुलना बखूबी संभव हो पायी है।

तेलुगु की ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार वासिरेड्डी सीतादेवी हिंदी अध्ययन व अध्यापन के बाद तेलुगु में रचनाकार बनीं। आपने अध्ययन काल में प्रेमचंद के सारे उपन्यासों का गहराई से अध्ययन कर रखा था। प्रेमचंद का गहरा प्रभाव उन पर है। उनका एक उपन्यास 'मट्टि मनिषि' बहुत ही श्रेष्ठ और लोकप्रिय माना जाता है, जिनका अनुवाद 'मिट्टी का मनुष्य' के नाम से हिंदी में प्रकाशित भी हुआ है।

सीतादेवी बताती है कि हिंदी में उनके उपन्यास को पढ़कर कुछ हिंदी पाठकों ने उससे कहा कि 'हमें थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है कि हम 'गोदान' पढ़ रहे हैं।' स्पष्ट है कि प्रेमचंद की रचनाओं का प्रभाव इतर भारतीय भाषाओं में जबरदस्त पड़ा है, विशेषकर 'गोदान' का।

मेरे एक मित्र हैं श्री निर्मलानंद वात्सायन (मल्लेश्वर रक्ष), जो तेलुगु में 'प्रजासाहिती' नामक प्रगतिशील मासिक पत्रिका के संपादक हैं। वे हिंदी से तेलुगु में और इसी प्रकार तेलुगु से हिंदी में अनुवाद करने में माहिर हैं, हालाँकि हिंदी में उन्होंने कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की है। उनकी मातृभाषा तेलुगु है। फिर उन्होंने, कैसे हिंदी में दक्षता प्राप्त की और हिंदी में कई पुस्तकों की रचना कैसे की! इसका राज खोलते हुए वे बताते हैं कि वे गत शती के पाँचवें दशक में तेलुगु में उपलब्ध बहुत सारे उपन्यास पढ़ा करते थे। एक दिन उन्हें 'गोदान' उपन्यास हाथ लगा। (तेलुगु अनुवादक: पिच्चेश्वर राव)। उसे पढ़ने के बाद उन्हें लगा कि 'गोदान' को मूल में पढ़ना चाहिए। लेकिन हिंदी उन्हें आती नहीं थी। एक उपाय उन्हें सूझा। हिंदी में 'गोदान' को प्राप्त कर लिया। तेलुगु 'गोदान' का एक-एक वाक्य पहले पढ़ता गया और बाद में साथ ही हिंदी 'गोदान' का वाक्य पढ़ता गया। इस तरह पूरा उपन्यास दो तीन-बार पढ़ गया। बस हिंदी आ गयी। यह विचित्र बात लगती है। लेकिन सच्ची बात है। 'गोदान' ने तथा उसके तेलुगु अनुवाद ने एक पाठक को हिंदी का लेखक व अनुवादक बना दिया।

प्रेमचंद की जन्मशती के अवसर पर 1980 में पूरे भारत में, सभी भाषाई प्रदेशों में, समारोह आयोजित हुए, सभाएँ हुई, भाषण हुए, स्मारिकाएँ निकाली गईं। कोलकाता के राष्ट्रीय ग्रंथालय ने प्रेमचंद की एक बिब्लियोग्राफी निकाली। तेलुगु प्रदेश में भी जगह-जगह कई कार्यक्रम हुए। हैदराबाद में हुए ऐसे चार कार्यक्रमों का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक लगता है। 13 मार्च 1980 को उस्मानिया विश्वविद्यालय के आर्ट्स कॉलेज में एक सभा का आयोजन हुआ, जिसमें हिंदी व तेलुगु समेत इतर भाषा विभागों के अध्यापक एवं छात्रों ने भाग लिया। मार्च 1980 में ही आंध्र सारस्वत परिषत्तु में उन्नव लक्ष्मीनारायण एवं प्रेमचंद दोनों का संयुक्त रूप से जन्मशती समारोह मनाया गया। नवंबर 1980 में श्रीकृष्ण देवराय भाषा निलयमु में प्रेमचंद पर संगोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसमें प्रेमचंद के विविध उपन्यासों पर चर्चा हुई। दिसंबर 1980 में केंद्रीय साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के सौजन्य से डॉ. बेजवाड गोपाल रेड्डी की अध्यक्षता में संयुक्त रूप से प्रेमचंद और कट्टमचि रामलिंगा रेड्डी (1880-1981) की शतजयंती का समारोह मनाया गया। दोनों रचनाकारों एवं उनकी रचनाओं पर चर्चाएँ संपन्न हुईं। स्मारिका निकाली गयी। उसमें डॉ. बेजवाड गोपाल रेड्डी (1907-1997) (राजनेता व साहित्यकार) द्वारा प्रेमचंद की महानता का वर्णन करते हुए 96 पंक्तियों में लिखी लंबी कविता प्रकाशित है।

ऊपर का विवरण यह बताता है कि तेलुगु साहित्य जगत ने प्रेमचंद को अपना साहित्यकार माना, अपनी भाषा का साहित्यकार माना, उनकी अधिकांश रचनाओं का अपनी भाषा में विपुल मात्रा में अनुवाद करा कर उनसे प्रेरणा प्राप्त की। कुछ तेलुगु की रचनाओं पर उनका स्पष्ट व जीवंत प्रभाव पड़ा है। तुलनात्मक शोध के शोधार्थियों ने दोनों भाषाओं में शोध किए। तेलुगु में अनूदित उनके उपन्यासों का मूल्यांकनपरक अध्ययन हुआ। 'गोदान' की मूल कृति एवं उसकी अनूदित कृति की सहायता से हिंदी में दक्षता हासिल की गई। एक प्रकाशक ने अपने प्रकाशन का नाम प्रेमचंद के नाम पर रखा। उनकी स्मृति में सभा-समारोह आयोजित किये गये, स्मारिका निकाली गयी और तेलुगु में उन पर रचनाएँ प्रकाशित हुईं, कविताएँ लिखी गयीं।

निस्संदेह प्रेमचंद सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वभाषिक साहित्यकार हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. नगेंद्र (सं.), हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.588
2. डॉ. पी.वी. नरसा रेड्डी, आधुनिक तेलुगु साहित्य, पृ.100
3. डॉ. पी.वी. नरसा रेड्डी, आधुनिक तेलुगु साहित्य, पृ.100

प्रेमचंद की कहानी 'जिहाद' और आज का इस्लामी आतंकवाद

कमल किशोर गोयनका*

भारत स्वतन्त्रता के बाद कई दशकों से पाकिस्तान की ओर से धार्मिक कट्टरता का शिकार रहा है और लगभग विगत डेढ़ दशक से तो कश्मीर तथा देश के अन्य कुछ क्षेत्रों में, इस इस्लामी आतंकवाद के खूनी पंजों का प्रभाव फैल रहा है। श्रीनगर के सचिवालय तथा भारतीय संसद पर हुए इस्लामी आतंकवाद के आक्रमण ने तो पूरे देश को झकझोर कर रख दिया था। अमेरिका में 11 सितम्बर को हुए ऐसे ही हमले से पूरा विश्व पहले ही आश्चर्यचकित रह चुका है। विश्व के कई देशों में, यहाँ तक कि रूस और चीन में भी, इस्लाम के नाम से बिन लादेन, बुखारी तथा अन्य कट्टर इस्लामी नेता धार्मिक युद्ध 'जिहाद' के लिए अपने धर्मावलंबियों को उत्तेजित करते रहे हैं। यह सच है कि विश्व का मुस्लिम समाज 'जिहाद' की बात नहीं कर रहा है, लेकिन यह भी सच है कि यह इस्लामी आतंकवाद अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है। भारत के सम्मुख इस धार्मिक जिहाद ने पाकिस्तान के साथ एक नये प्रकार के युद्ध को हमारे दरवाजे पर ला पटका है।

इस्लामी आतंकवाद की इस विश्वव्यापी परिस्थितियों में प्रेमचंद की कहानी 'जिहाद' को पढ़ना और मर्म को जानना महत्त्वपूर्ण होगा, क्योंकि इससे हमें यह ज्ञात होगा कि बीसवीं शताब्दी का महान लेखक लगभग 70-75 वर्ष पूर्व किस प्रकार इस्लाम की धार्मिक कट्टरता, धर्मान्तरण तथा आतंकवाद को देख रहा था। ध्यान रहे, प्रेमचंद गाँधी के समान, हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे और अपने कुछ लेखों में वे इस्लाम के मानवीय मूल्यों की प्रशंसा करते रहे थे, लेकिन उन्होंने मुस्लिम बादशाहों तथा मुसलमानों द्वारा हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचारों का भी साहस के साथ खुलासा किया। यहाँ तक कि 'हंस' के प्रवेशांक में उन्होंने अपने सम्पादकीय में लिखा कि आज अगर कोई मुसलमान 'पहले हिन्दुस्तानी' होने का दावा करे, तो उस पर चारों ओर से बौछारें होने लगेंगी। 'पहले मुसलमान' बनकर धर्मान्ध जनता की निगाह में गौरव प्राप्त कर लेना तो आसान है, पर उसका मुसलमानों की मनोवृत्ति पर जो बुरा

* डॉ. कमल किशोर गोयनका, प्रेमचन्द्र साहित्य के गहन अध्येता हैं।

असर पड़ता है, वह देश-हित के लिए घातक है। मुसलमान किसी प्रश्न पर राष्ट्र की आँखों से नहीं देखता, वह उसे मुस्लिम आँखों से देखता है। वह अगर कोई प्रश्न पूछता है, तो मुस्लिम दृष्टि से; किसी बात का विरोध करता है, तो वह मुस्लिम दृष्टि से। लाखों मुसलमान बाढ़ और सूखे से तबाह हो रहे हैं, उनकी तरफ किसी मुस्लिम मेम्बर की निगाह नहीं जाती। अपनी इसी राष्ट्रभक्ति के कारण प्रेमचंद ने इकबाल की पाकिस्तान निर्माण की मुहिम पर कठोर टिप्पणी की, जो 'जागरण' के 14 मई, 1933 के अंक में 'पाकिस्तान की नयी उपज' शीर्षक से छपी।

प्रेमचंद की इस वैचारिक पृष्ठभूमि और आज की इस्लामी आतंकवाद की चुनौती के बीच उनकी कहानी 'जिहाद' यहाँ पाठकों के लिए प्रस्तुत है। 'जिहाद' कहानी भी अफगानिस्तान की कहानी है। यह कहानी सन् 1929 के आस-पास की है तथा सबसे पहले 'प्रेम चालीसी' 2 (उर्दू कहानी-संग्रह) में संकलित हुई थी और बाद में 'मानसरोवर' 7 में भी प्रकाशित की गयी। इस कहानी में भी बिन लादेन और बुखारी के समान एक मुल्ला इस पर्वतीय प्रदेश में आकर 'धर्मशून्य पठानों' में धार्मिक कट्टरता जाग्रत कर देता है। वह जो धार्मिक उत्तेजना के लिए भाषण देता है, आज के ये कट्टरपंथी भी उसी भाषा का प्रयोग करते हैं। परिणाम वही होता है, जो आज हो रहा है। हिन्दुओं पर अत्याचार होने लगते हैं और उन्हें इस्लाम की दीक्षा दी जाने लगती है। सदियों से हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ रहते आये थे, पर यह शान्ति धर्मान्तरण की आँधी में बदल गयी। हिन्दुओं के काफिले भागने लगे। जो पकड़े जाते उन्हें जिहादी मुसलमान बना लेते और जो तैयार न होते उन्हें मार देते। कुछ हिन्दू खुदा और उसके रसूल पर ईमान लाने हो तैयार नहीं हुए। ऐसे ही बलिदानी हिन्दुओं की कहानी है 'जिहाद'। प्रेमचंद आज के से 'सेकुलरवादी' नहीं थे, जो इस्लामी आतंकवाद की ओर देखना ही नहीं चाहते। प्रेमचंद का यह 'हिन्दूपन' साम्प्रदायिक नहीं राष्ट्रीय और मानवीय है। वे राष्ट्रभक्त थे और कट्टरपंथी मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और आतंकवाद को नंगा करने का साहस रखते थे। वे इतिहास और अपने समय के सत्य को जानते थे और भविष्य को भी। देखना यह है कि क्या आज का लेखक प्रेमचंद के इस साहस और तटस्थता की समझ रखता है?

प्रेमचन्द की कहानी: जिहाद

बहुत पुरानी बात है। हिंदुओं का एक काफिला अपने धर्म की रक्षा के लिए पश्चिमोत्तर के पर्वत-प्रदेश भागा चला आ रहा था। मुद्दतों से उस प्रांत में हिंदू और मुसलमान साथ-साथ रहते चले आये थे। धार्मिक द्वेष का नाम न था। पठानों के जिरगे हमेशा लड़ते रहते थे। उनकी तलवारों पर कभी जंग न लगने पाती थी। बात-बात पर उनके दल संगठित हो जाते थे। शासन की कोई व्यवस्था न थी। हर एक जिरगे

और कबीले की व्यवस्था अलग थी। आपस के झगड़ों को निपटाने का भी तलवार के सिवा और कोई साधन न था। जान का बदला जान था, खून का बदला खून; इस नियम में कोई अपवाद न था। यही धर्म था, यही ईमान; मगर उस भीषण रक्तपात में भी हिंदू परिवार शांति से जीवन व्यतीत करते थे। पर एक महीने से देश की हालात बदल गयी है। एक मुल्ला ने न जाने कहाँ से आ कर अनपढ़ धर्मशून्य पठानों में धर्म का भाव जागृत कर दिया है। उसकी वाणी में कोई ऐसी मोहिनी है कि बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरुष खिंचे चले आते हैं। वह शेरों की तरह गरज कर कहता है खुदा ने तुम्हें इसलिए पैदा किया है कि दुनिया को इस्लाम की रोशनी से रोशन कर दो, दुनिया से कुफ्र का निशान मिटा दो। एक काफ़िर के दिल को इस्लाम के उजाले से रोशनी कर देने का सवाब सारी उम्र के रोजे, नमाज और जकात से कहीं ज्यादा है। जन्नत की हूरें तुम्हारी बलाएँ लेंगी और फरिश्ते तुम्हारे कदमों की खाक माथे पर मलेंगे, खुदा तुम्हारी पेशानी पर बोसे देगा। और सारी जनता यह आवाज सुन कर मजहब के नारों से मतवाली हो जाती है। उसी धार्मिक उत्तेजना ने कुफ्र और इस्लाम का भेद उत्पन्न कर दिया है। प्रत्येक पठान जन्नत का सुख भोगने के लिए अधीर हो उठा है। उन्हीं हिंदुओं पर जो सदियों से शांति के साथ रहते थे, हमले होने लगे हैं। कहीं उनके मंदिर ढाये जाते हैं, कहीं उनके देवताओं को गालियाँ दी जाती हैं। कहीं उन्हें जबरदस्ती इस्लाम की दीक्षा दी जाती है। हिंदू संख्या में कम हैं, असंगठित हैं; बिखरे हुए हैं, इस नयी परिस्थिति के लिए बिलकुल तैयार नहीं। उनके हाथ-पाव फूले हुए हैं, कितने ही तो अपनी जमा-जथा छोड़ कर भाग खड़े हुए हैं, कुछ इस आँधी के शांत हो जाने का अवसर देख रहे हैं। यह काफ़िला भी उन्हीं भागनेवालों में था। दोपहर का समय था। आसमान से आग बरस रही थी। पहाड़ों से ज्वाला-सी निकल रही थी। वृक्ष का कहीं नाम न था। ये लोग राज-पथ से हटे हुए, पेचीदा औघट रास्तों से चले आ रहे थे। पग-पग पर पकड़ लिये जाने का खटक लगा हुआ था। यहाँ तक कि भूख, प्यास और ताप से विकल होकर अंत को लोग एक उभरी हुई शिला की छाँह में विश्राम करने लगे। सहसा कुछ दूर पर एक कुआँ नजर आया। वहीं डेरे डाल दिये। भय लगा हुआ था कि जिहादियों का कोई दल पीछे से न आ रहा हो। दो युवकों ने बंदूक भर कंधे पर रखीं और चारों तरफ गश्त करने लगे। बूढ़े कम्बल बिछा कर कमर सीधी करने लगे। स्त्रियाँ बालकों को गोद से उतार कर माथे का पसीना पोंछने और बिखरे हुए केशों को सँभालने लगीं। सभी के चेहरे मुरझाये हुए थे। सभी चिंता और भय से त्रस्त हो रहे थे, यहाँ तक कि बच्चे जोर से न रोते थे।

दोनों युवकों में एक लम्बा, गठीला रूपवान है। उसकी आँखों से अभिमान की रेखाएँ-सी निकल रही हैं, मानो वह अपने सामने किसी की हकीकत नहीं समझता, मानो उसकी एक-एक गत पर आकाश के देवता जयघोष कर रहे हैं। दूसरा कद का

दुबला-पतला, रूपहीन-सा आदमी है, जिसके चेहरे से दीनता झलक रही है, मानो उसके लिए संसार में कोई आशा नहीं, मानो वह दीपक की भाँति रो-रो कर जीवन व्यतीत करने ही के लिए बनाया गया है। उसका नाम धर्मदास है; इसका खज्जँचंद।

धर्मदास ने बंदूक को जमीन पर टिका कर एक चट्टान पर बैठते हुए कहातुमने अपने लिए क्या सोचा? कोई लाख-सवा लाख की सम्पत्ति रही होगी तुम्हारी?

खज्जँचंद ने उदासीन भाव से उत्तर दियालाख-सवा लाख की तो नहीं, हाँ, पचास-साठ हजार तो नकद ही थे।

‘तो अब क्या करोगे?’

‘जो कुछ सिर पर आयेगा, झेलूँगा! रावलपिंडी में दो-चार सम्बन्धी हैं, शायद कुछ मदद करें। तुमने क्या सोचा है?’

‘मुझे क्या गम! अपने दोनों हाथ अपने साथ हैं। वहाँ इन्हीं का सहारा था, आगे भी इन्हीं का सहारा है।’

‘आज और कुशल से बीत जाये तो फिर कोई भय नहीं।’

‘मैं तो मान रहा हूँ कि एकाध शिकार मिल जाय। एक दरजन भी आ जायँ तो भून कर रख दूँ।’

इतने में चट्टानों के नीचे से एक युवती हाथ में लोटा-डोर लिये निकली और सामने कुएँ की ओर चली। प्रभात की सुनहरी, मधुर, अरुणिमा मूर्तिमान हो गयी थी।

दोनों युवक उसकी ओर बढ़े लेकिन खज्जँचंद तो दो-चार कदम चल कर रुक गया, धर्मदास ने युवती के हाथ से लोटा-डोर ले लिया और खज्जँचंद की ओर सगर्व नेत्रों से ताकता हुआ कुएँ की ओर चला। खज्जँचंद ने फिर बंदूक सँभाली और अपनी झेंप मिटाने के लिए आकाश की ओर ताकने लगा। इसी तरह कितनी ही बार धर्मदास के हाथों पराजित हो चुका था। शायद उसे इसका अभ्यास हो गया था। अब इसमें लेशमात्र भी संदेह न था कि श्यामा का प्रेमपात्र धर्मदास है। खज्जँचंद की सारी सम्पत्ति धर्मदास के रूपवैभव के आगे तुच्छ थी। परोक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से भी श्यामा कई बार खज्जँचंद को हताश कर चुकी थी; वह अभागा निराश हो कर भी न जाने क्यों उस पर प्राण देता था। तीनों एक ही बस्ती के रहनेवाले थे। श्यामा के माता-पिता पहले ही मर चुके थे। उसकी बुआ ने उसका पालन-पोषण किया था। अब भी वह बुआ ही के साथ रहती थी। उसकी अभिलाषा थी कि खज्जँचंद उसका दामाद हो, श्यामा सुख से रहे और उसे भी जीवन के अंतिम दिनों के लिए कुछ सहारा हो जाये; लेकिन श्यामा धर्मदास पर रीझी हुई थी। उसे क्या खबर थी कि जिस व्यक्ति को वह पैरों से ठुकरा रही है, वही उसका एकमात्र अवलम्ब है। खज्जँचंद ही वृद्धा का मुनीम, खजांची, कारिंदा सब कुछ था और यह जानते हुए भी कि श्यामा उसे जीवन में नहीं मिल सकती। उसके धन का यह उपयोग न होता, तो वह शायद अब तक उसे लुटा कर

फकीर हो जाता।

2

धर्मदास पानी लेकर लौट ही रहा था कि उसे पश्चिम की ओर से कई आदमी घोड़ों पर सवार आते दिखायी दिये। जरा और समीप आने पर मालूम हुआ कि कुल पाँच आदमी हैं। उनकी बंदूक की नलियाँ धूप में साफ चमक रही थीं। धर्मदास पानी लिये हुए दौड़ा कि कहीं रास्ते ही में सवार उसे न पकड़ लें लेकिन कंधे पर बंदूक और एक हाथ में लोटा-डोर लिये वह बहुत तेज न दौड़ सकता था। फासला दो सौ गज से कम न था। रास्ते में पत्थरों के ढेर टूटे-फूटे पड़े हुए थे। भय होता था कि कहीं ठोकर न लग जाय, कहीं पैर न फिसल जायँ। इधर सवार प्रतिक्षण समीप होते जाते थे। अरबी घोड़ों से उसका मुकाबला ही क्या, उस पर मंजिलों का धावा हुआ। मुश्किल से पचास कदम गया होगा कि सवार उसके सिर पर आ पहुँचे और तुरंत उसे घेर लिया। धर्मदास बड़ा साहसी था; पर मृत्यु को सामने खड़ी देख कर उसकी आँखों में अँधेरा छा गया, उसके हाथ से बंदूक छूट कर गिर पड़ी। पाँचों उसी के गाँव के महसूदी पठान थे। एक पठान ने कहाउड़ा दो सिर मरदूद का। दगाबाज़ काफ़िर।

दूसरानहीं नहीं, ठहरो, अगर यह इस वक्त भी इस्लाम कबूल कर ले, तो हम इसे मुआफ कर सकते हैं। क्यों धर्मदास, तुम्हें इस दगा की क्या सजा दी जाय? हमने तुम्हें रात-भर का वक्त फैसला करने के लिए दिया था। मगर तुम इसी वक्त जहन्नुम पहुँचा दिये जाओ; लेकिन हम तुम्हें फिर मौका देते हैं। यह आखिरी मौका है। अगर तुमने अब भी इस्लाम न कबूल किया, तो तुम्हें दिन की रोशनी देखनी नसीब न होगी। धर्मदास ने हिचकिचाते हुए कहाजिस बात को अक्ल नहीं मानती, उसे कैसे...

पहले सवार ने आवेश में आकर कहामजहब को अक्ल से कोई वास्ता नहीं। तीसराकुफ़्र है!

पहलाउड़ा दो सिर मरदूद का, धुआँ इस पार।

दूसराठहरो, मार डालना मुश्किल नहीं, जिला लेना मुश्किल है। तुम्हारे और साथी कहाँ हैं धर्मदास?

धर्मदाससब मेरे साथ ही हैं।

दूसराकलामे शरीफ़ की कसम; अगर तुम सब खुदा और उनके रसूल पर ईमान लाओ, तो कोई तुम्हें तेज निगाहों से देख भी न सकेगा।

धर्मदासआप लोग सोचने के लिये और कुछ मौका न देंगे।

इस पर चारों सवार चिल्ला उठेनहीं, नहीं, हम तुम्हें न जाने देंगे, यह आखिरी मौका है।

इतना कहते ही पहले सवार ने बंदूक छतिया ली और नली धर्मदास की छाती की ओर करके बोला बस बोलो, क्या मंजूर है?

धर्मदास सिर से पैर तक काँप कर बोला अगर मैं इस्लाम कबूल कर लूँ तो मेरे साथियों को तो कोई तकलीफ न दी जायेगी?

दूसरा हाँ, अगर तुम जमानत करो कि वे भी इस्लाम कबूल कर लेंगे।

पहला हम इस शर्त को नहीं मानते। तुम्हारे साथियों से हम खुद निपट लेंगे। तुम अपनी कहो। क्या चाहते हो? हाँ या नहीं?

धर्मदास ने जहर का घूँट पी कर कहा-मैं खुदा पर ईमान लाता हूँ।

पाँचों ने एक स्वर से कहा अलहमद व लिल्लाह! और बारी-बारी से धर्मदास को गले लगाया।

3

श्यामा हृदय को दोनों हाथों से थामे यह दृश्य देख रही थी। वह मन में पछता रही थी कि मैंने क्यों इन्हें पानी लाने भेजा? अगर मालूम होता कि विधि यों धोखा देगा, तो मैं प्यासों मर जाती, पर इन्हें न जाने देती। श्यामा से कुछ दूर खज़ाँचंद भी खड़ा था। श्यामा ने उसकी ओर क्षुब्ध नेत्रों से देख कर कहा अब इनकी जान बचती नहीं मालूम होती।

खज़ाँचंदबंदूक भी हाथ से छूट पड़ी है।

श्यामान जाने क्या बातें हो रही हैं। अरे गजब! दुष्ट ने उनकी ओर बंदूक तानी है!

खज़ाँ.जरा और समीप आ जायँ, तो मैं बंदूक चलाऊँ। इतनी दूर की मार इसमें नहीं है।

श्यामाअरे! देखो, वे सब धर्मदास को गले लगा रहे हैं। यह माजरा क्या है?

खज़ाँ.कुछ समझ में नहीं आता।

श्यामाकहीं इसने कमला तो नहीं पढ़ लिया?

खज़ाँ.नहीं, ऐसा क्या होगा, धर्मदास से मुझे ऐसी आशा नहीं है।

श्यामामैं समझ गयी। ठीक यही बात है। बंदूक चलाओ।

खज़ाँ.धर्मदास बीच में हैं। कहीं उन्हें न लग जाय।

श्यामाकोई हर्ज नहीं। मैं चाहती हूँ, पहला निशाना धर्मदास ही पर पड़े। कायर! निर्लज्ज! प्राणों के लिए धर्म त्याग किया। ऐसी बेहयाई की जिंदगी से मर जाना कहीं अच्छा है। क्या सोचते हो। क्या तुम्हारे भी हाथ-पाँव फूल गये। लाओ, बंदूक मुझे दे दो। मैं इस कायर को अपने हाथों से मारूँगी।

खज़ाँ.मुझे तो विश्वास नहीं होता कि धर्मदास...

श्यामा तुम्हें कभी विश्वास न आयेगा। लाओ, बंदूक मुझे दो। खड़े क्या ताकते हो? क्या वे सिर पर आ जायेंगे, तब बंदूक चलाओगे? क्या तुम्हें भी यह मंजूर है कि मुसलमान हो कर जान बचाओ? अच्छी बात है, जाओ। श्यामा अपनी रक्षा आप कर सकती है; मगर उसे अब मुँह न दिखाना।

ख़ज़ाँचंद ने बंदूक चलायी। एक सवार की पगड़ी को उड़ाती हुई निकल गयी। जिहादियों ने 'अल्लाहो अकबर!' की हाँक लगायी। दूसरी गोली चली और घोड़े की छाती पर बैठी। घोड़ा वहीं गिर पड़ा। जिहादियों ने फिर 'अल्लाहो अकबर!' की सदा लगायी और आगे बढ़े। तीसरी गोली आयी। एक पठान लोट गया; पर इसके पहले कि चौथी गोली छूटे, पठान ख़ज़ाँचंद के सिर पर पहुँच गये और बंदूक उसके हाथ से छीन ली।

एक सवार ने ख़ज़ाँचंद की ओर बंदूक तान कर कहा-उड़ा दूँ सिर मरदूद का, इससे खून का बदला लेना है।

दूसरे सवार ने जो इनका सरदार मालूम होता था, कहा नहीं-नहीं, यह दिलेर आदमी है। ख़ज़ाँचंद, तुम्हारे ऊपर दगा, खून और कुफ़्र, ये तीन इल्ज़ाम हैं, और तुम्हें कत्ल कर देना ऐन सवाब है, लेकिन हम तुम्हें एक मौका और देते हैं। अगर तुम अब भी खुदा और रसूल पर ईमान लाओ, तो हम तुम्हें सीने से लगाने को तैयार हैं। इसके सिवा तुम्हारे गुनाहों का और कोई कफारा (प्रायश्चित्त) नहीं है। यह हमारा आखिरी फैसला है। बोलो, क्या मंजूर है?

चारों पठानों ने कमर से तलवारें निकाल लीं, और उन्हें ख़ज़ाँचंद के सिर पर तान दिया मानो 'नहीं' का शब्द मुँह से निकलते ही चारों तलवारें उसकी गर्दन पर चल जायँगी!

ख़ज़ाँचंद का मुखमंडल विलक्षण तेज से आलोकित हो उठा। उसकी दोनों आँखें स्वर्गीय ज्योति से चमकने लगीं। दृढ़ता से बोला तुम एक हिन्दू से प्रश्न कर रहे हो? क्या तुम समझते हो कि जान के खौफ से वह अपना ईमान बेच डालेगा? हिंदू को अपने ईश्वर तक पहुँचने के लिए किसी नबी, वली, या पैगम्बर की जरूरत नहीं! चारों पठानों ने कहा काफिर! काफिर!

ख़ज़ाँ. अगर तुम मुझे काफिर समझते हो तो समझो। मैं अपने को तुमसे ज्यादा खुदापरस्त समझता हूँ। मैं उस धर्म को मानता हूँ, जिसकी बुनियाद अक्ल पर है। आदमी में अक्ल ही खुदा का नूर (प्रकाश) है और हमारा ईमान हमारी अक्ल...

चारों पठानों के मुँह से निकला 'काफिर! काफिर!' और चारों तलवारें एक साथ ख़ज़ाँचंद की गर्दन पर गिर पड़ीं। लाश जमीन पर फड़कने लगी। धर्मदास सिर झुकाये खड़ा रहा। वह दिल में खुश था कि अब ख़ज़ाँचंद की सारी सम्पत्ति उसके हाथ लगेगी और वह श्यामा के साथ सुख से रहेगा; पर विधाता को कुछ और ही मंजूर था। श्यामा अब तक मर्माहत-सी खड़ी यह दृश्य देख रही थी। ज्यों ही ख़ज़ाँचंद की लाश जमीन

पर गिरी, वह झपट कर लाश के पास आयी और उसे गोद में लेकर आँचल से रक्त-प्रवाह को रोकने की चेष्टा करने लगी। उसके सारे कपड़े खून से तर हो गये। उसने बड़ी सुंदर बेल-बूटोंवाली साड़ियाँ पहनी होंगी, पर इस रक्त-रंजित साड़ी की शोभा अतुलनीय थी। बेल-बूटोंवाली साड़ियाँ रूप की शोभा बढ़ाती थीं, यह रक्त-रंजित साड़ी आत्मा की छवि दिखा रही थी।

ऐसा जान पड़ा मानो खजूँचंद की बुझती आँखें एक अलौकिक ज्योति से प्रकाशमान हो गयी हैं। उन नेत्रों में कितना संतोष, कितनी तृप्ति, कितनी उत्कंठा भरी हुई थी। जीवन में जिसने प्रेम की भिक्षा भी न पायी, वह मरने पर उत्सर्ग जैसे स्वर्गीय रत्न का स्वामी बना हुआ था।

4

धर्मदास ने श्यामा का हाथ पकड़ कर कहा श्यामा, होश में आओ, तुम्हारे सारे कपड़े खून से तर हो गये हैं। अब रोने से क्या हासिल होगा? ये लोग हमारे मित्र हैं, हमें कोई कष्ट न देंगे। हम फिर अपने घर चलेंगे और जीवन के सुख भोगेंगे?

श्यामा ने तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देख कर कहा तुम्हें अपना घर बहुत प्यारा है, तो जाओ। मेरी चिंता मत करो, मैं अब न जाऊँगी। हाँ, अगर अब भी मुझसे कुछ प्रेम हो तो इन लोगों से इन्हीं तलवारों से मेरा भी अंत करा दो।

धर्मदास करुणा-कातर स्वर से बोला श्यामा, यह तुम क्या कहती हो, तुम भूल गयीं कि हमसे-तुमसे क्या बातें हुई थीं? मुझे खुद खजूँचंद के मारे जाने का शोक है; पर भावी को कौन टाल सकता है?

श्यामा अगर यह भावी थी, तो यह भी भावी कि मैं अपना अधम जीवन उस पवित्र आत्मा के शोक में काटूँ, जिसका मैंने सदैव निरादर किया। यह कहते-कहते श्यामा का शोकोद्गार, जो अब तक क्रोध और घृणा के नीचे दबा हुआ था, उबल पड़ा और वह खजूँचंद के निस्पंद हाथों को अपने गले में डाल कर रोने लगी।

चारों पठान यह अलौकिक अनुराग और आत्म-समर्पण देख कर करुणार्द्र हो गये। सरदार ने धर्मदास से कहा तुम इस पाकीजा खातून से कहो, हमारे साथ चले। हमारी जाति से इसे तकलीफ न होगी। हम इसकी दिल से इज्जत करेंगे।

धर्मदास के हृदय में ईर्ष्या की आग धधक रही थी। वह रमणी, जिसे वह अपनी समझे बैठा था, इस वक्त उसका मुँह भी नहीं देखना चाहती थी। बोला श्यामा, तुम चाहो इस लाश पर आँसुओं की नदी बहा दो, पर यह जिंदा न होगी। यहाँ से चलने की तैयारी करो। मैं साथ के और लोगों को भी जा कर समझाता हूँ। खान लोग हमारी रक्षा करने का जिम्मा ले रहे हैं। हमारी जायदाद, जमीन, दौलत सब हमको मिल जायगी। खजूँचंद की दौलत के भी हमीं मालिक होंगे। अब देर न करो। रोने-धोने से अब कुछ हासिल नहीं।

श्यामा ने धर्मदास को आग्नेय नेत्रों से देख कर कहा और इस वापसी की कीमत क्या देनी होगी? वही जो तुमने दी है?

धर्मदास यह व्यंग्य न समझ सका। बोला मैंने तो कोई कीमत नहीं दी। मेरे पास था ही क्या?

श्यामा ऐसा न कहो। तुम्हारे पास वह खजाना था, जो तुम्हें आज कई लाख वर्ष हुए ऋषियों ने प्रदान किया था। जिसकी रक्षा रघु और मनु, राम और कृष्ण, बुद्ध और शंकर, शिवाजी और गोविंदसिंह ने की थी। उस अमूल्य भंडार को आज तुमने तुच्छ प्राणों के लिए खो दिया। इन पाँवों पर लोटना तुम्हें मुबारक हो! तुम शौक से जाओ। जिन तलवारों ने वीर खज़ाँचंद के जीवन का अंत किया, उन्होंने मेरे प्रेम का भी फ़ैसला कर दिया। जीवन में इस वीरात्मा का मैंने जो निरादर और अपमान किया, इसके साथ जो उदासीनता दिखायी, उसका अब मरने के बाद प्रायश्चित्त करूँगी। यह धर्म पर मरने वाला वीर था, धर्म को बेचनेवाला कायर नहीं! अगर तुममें अब भी कुछ शर्म और हया है, तो इसका क्रिया-कर्म करने में मेरी मदद करो और यदि तुम्हारे स्वामियों को यह भी पसंद न हो, तो रहने दो, मैं सब कुछ कर लूँगी।

पठानों के हृदय दर्द से तड़प उठे। धर्मान्धता का प्रकोप शांत हो गया। देखते-देखते वहाँ लकड़ियों का ढेर लग गया। धर्मदास ग्लानि से सिर झुकाये बैठा था और चारों पठान लकड़ियाँ काट रहे थे। चिता तैयार हुई और जिन निर्दय हाथों ने खज़ाँचंद की जान ली थी उन्हीं ने उसके शव को चिता पर रखा। ज्वाला प्रचंड हुई। अग्निदेव अपने अग्निमुख से उस धर्मवीर का यश गा रहे थे।

5

पठानों ने खज़ाँचंद की सारी जंगम सम्पत्ति ला कर श्यामा को दे दी। श्यामा ने वहीं पर एक छोटा-सा मकान बनवाया और वीर खज़ाँचंद की उपासना में जीवन के दिन काटने लगी। उसकी वृद्धा बुआ तो उसके साथ रह गयी, और सब लोग पठानों के साथ लौट गये, क्योंकि अब मुसलमान होने की शर्त न थी। खज़ाँचंद के बलिदान ने धर्म के भूत को परास्त कर दिया। मगर धर्मदास को पठानों ने इस्लाम की दीक्षा लेने पर मजबूर किया। एक दिन नियत किया गया। मसजिद में मुल्लाओं का मेला लगा और लोग धर्मदास को उसके घर से बुलाने आये; पर उसका वहाँ पता न था। चारों तरफ तलाश हुई। कहीं निशान न मिला।

साल-भर गुजर गया। संध्या का समय था। श्यामा अपने झोंपड़े के सामने बैठी भविष्य की मधुर कल्पनाओं में मग्न थी। अतीत उसके लिए दुःख से भरा हुआ था। वर्तमान केवल एक निराशामय स्वप्न था। सारी अभिलाषाएँ भविष्य पर अवलम्बित थीं। और भविष्य भी वह, जिसका इस जीवन से कोई सम्बन्ध न था! आकाश पर लालिमा छायी हुई थी। सामने की पर्वतमाला स्वर्णमयी शांति के आवरण से ढकी हुई

थी। वृक्षों की काँपती हुई पत्तियों से सरसराहट की आवाज निकल रही थी, मानो कोई वियोगी आत्मा पत्तियों पर बैठी हुई सिसकियाँ भर रही हो।

उसी वक्त एक भिखारी फटे हुए कपड़े पहने झोंपड़ी के सामने खड़ा हो गया। कुत्ता जोर से भूँक उठा। श्यामा ने चौंक कर देख और चिल्ला उठी धर्मदास!

धर्मदास ने वहीं जमीन पर बैठने हुए कहा 'हाँ श्यामा, मैं अभागा धर्मदास ही हूँ। साल-भर से मारा-मारा फिर रहा हूँ। मुझे खोज निकालने के लिए इनाम रख दिया गया है। सारा प्रांत मेरे पीछे पड़ा हुआ है। इस जीवन से अब ऊब उठा हूँ; पर मौत भी नहीं आती।

धर्मदास एक क्षण के लिए चुप हो गया। फिर बोला 'क्यों श्यामा, क्या अभी तुम्हारा हृदय मेरी तरफ से साफ नहीं हुआ! तुमने मेरा अपराध क्षमा नहीं किया!

श्यामा ने उदासीन भाव से कहा 'मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी।

'मैं अब भी हिन्दू हूँ। मैंने इस्लाम नहीं कबूल किया है।'

'जानती हूँ!'

'यह जान कर भी तुम्हें मुझ पर दया नहीं आती !'

श्यामा ने कठोर नेत्रों से देखा और उत्तेजित होकर बोली 'तुम्हें अपने मुँह से ऐसी बातें निकालते शर्म नहीं आती! मैं उस धर्मवीर की ब्याहता हूँ, जिसने हिंदू-जाति का मुख उज्ज्वल किया है। तुम समझते हो कि वह मर गया! यह तुम्हारा भ्रम है। वह अमर है। मैं इस समय भी उसे स्वर्ग में बैठा देख रही हूँ। तुमने हिंदू-जाति को कलंकित किया है। मेरे सामने से दूर हो जाओ।

धर्मदास ने कुछ जबाब न दिया! चुपके से उठा, एक लम्बी साँस ली और एक तरफ चल दिया।

प्रातःकाल श्यामा पानी भरने जा रही थी, तब उसने रास्ते में एक लाश पड़ी हुई देखी। दो-चार गिद्ध उस पर मँडरा रहे थे। उसका हृदय घड़कने लगा। समीप जा कर देखा और पहचाना गयी। यह धर्मदास की लाश थी।

समाज : दार्शनिक परिशीलन*

रामबहादुर राय**

अपने समाज को कैसे समझें और दुनिया के दूसरे समाजों से भिन्नता को ठीक-ठीक किस प्रकार पहचानें, सवाल अक्सर उठता रहता है। किसी समाज का सन्दर्भ अपना ही होता है। उसे तुलनात्मक रूप से समझना और समझाना एक कठिन प्रक्रिया है। उसी का दर्शन पाठक को 'समाज दार्शनिक परिशीलन' पुस्तक में होता है। समाज के बारे में अनेक तरह से विचार होता रहा है। किस तरीके से विचार होता रहा है इसका संबंध उस विषय से होता है कि फोकस क्या है। इस पुस्तक में समाज की चेतना को समझाने की कोशिश है। यही इसकी विषयवस्तु है। चेतना की वृत्तियों को पहचानने और उन्हें परिभाषित करने का जब सामाजिक संदर्भ हो तो एक अलग चित्र उभरता है। इस विषय पर पश्चिम की विचारधारा से ओत-प्रोत हो कर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। ऐसी पुस्तकें वैचारिक संकट और उसके धुंध को गहरा करती हैं, क्योंकि उन पुस्तकों में यह धारणा काम करती है कि पश्चिम के विचारकों ने जो समझा और समझाया वह ही सत्य है।

यह पुस्तक उससे भिन्न है। संस्कृति और समाज के अधिष्ठान की जो समस्या होती है, उसे प्रारंभ में ही स्पष्ट करने का प्रयास इसमें दिखता है। यह समस्या शास्त्रीय और सैद्धान्तिक होती है। एक शास्त्र के रूप में जब संस्कृति और समाज का अध्ययन किया जाता है तो अन्तर यहाँ आ जाता है कि वह शास्त्र कौन-सा है। क्या अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया जा रहा है या ऐतिहासिक संदर्भ में किया जा रहा है या दार्शनिक आधार पर किया जा रहा है। इसका स्वरूप शास्त्र से निर्धारित होता है। इनमें समन्वय संभव है। लेखक का मत है कि 'ये आखिर एक ही वस्तु के तीन आयाम हैं।' इस स्थापना के बाद पाठक उत्सुक हो कर वहाँ पहुँचना चाहता है जहाँ उसे समन्वय का सूत्र मिल सके। उसे निराशा मिलती है। वह तुरत 'सिद्धान्तमूलक मतभेदों में समन्वय और संप्रेषण संभव नहीं होता,' इस तथ्य के सामने अपने को खड़ा

* समीक्षित पुस्तक : समाजदार्शनिक परिशीलन, यशदेव शल्य, मूल्य : 250 रुपये; पृष्ठ : 211; प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर; द्वितीय संस्करण, 2007।

** समीक्षक देश के वरीष्ठतम पत्रकारों में से हैं। वे समाचार विचार पाक्षिक "प्रथम प्रवक्ता" के सम्पादक हैं।

पाता है। इसे वह यह समझ कर पढ़ना चाहता है कि उसे समाधान मिलेगा। लेकिन वह विवेचनाओं के जंगल में इस तरह भटक जाता है कि उसे अपने धैर्य और तर्क क्षमता की बार-बार होती परीक्षा से घबड़ाहट होने लगती है। वह भूल जाता है कि समाज को समझने का कौन-सा रास्ता चुने।

इस पुस्तक में लेखक ने सही बताया है कि समाज और संस्कृति पर विचारकों में मूलगामी मतभेद हैं। इतना कहना ही काफी नहीं है। यह बताना जरूरी है कि जो दो तरह के मतभेद हैं, उनका जो भी संदर्भ हो (शास्त्रमूलक या सिद्धान्तमूलक) वह हर समाज पर उसी तरह लागू नहीं हो सकता। इनमें समन्वय की खोज उचित नहीं है। संप्रेषण भी संभव नहीं है। संवाद हो सकता है। लेखक ने इस ओर सही संकेत किया है कि अनेक स्थापनाएँ बिना जाँच-पड़ताल से की जाती हैं और वह रुचि पर आधारित ज्यादा होती हैं। उनमें सिद्धांत कम होता है। पूर्वाग्रह ज्यादा होता है। मूल बात यह है कि समाज की चेतना का आधार क्या है? अनेक विद्वानों के कथन का उल्लेख कर लेखक यह सवाल उठाता है कि, 'सामाजिक चिन्तन या संस्कृति के अस्तित्व को समझने के लिए आधारभूत महत्त्व' किसका है? और उत्तर यह है कि समाज और व्यक्ति दोनों मनुष्यमूलक सत्ताएँ हैं।

संस्कृति क्या है? इसे दोनों रूपों में समाजशास्त्रियों और दार्शनिकों ने समझाया है। इस पुस्तक में बताया गया है कि, 'जो स्थान व्यक्तित्व में आत्मा का है, वही स्थान समाज में संस्कृति का है।' इसमें दो बातें कही गई हैं। व्यक्ति उसी तरह अपने पिंड से संचालित होता है जैसे समाज अपनी संस्कृति से। व्यक्ति जिस पिंड का होता है, उससे व्यक्तित्व बनता है। लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि, 'एक व्यक्तित्व किस प्रकार परिभाषित होता है?' क्या हर व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है? इस प्रश्न का उत्तर पुस्तक में उलझा हुआ है। जहाँ लेखक यह समझाता है कि जिस व्यक्ति में आत्मतत्त्वबोध अधिक प्रबल होता है, उसका व्यक्तित्व अधिक अनुशासित और स्वाधीन होता है। इसके उदाहरण भी गिनाए गये हैं। जैसे महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द आदि। ये उदाहरण सुगठित जीवन के हैं। इसी तरह शिथिल जीवन के भी कुछ उदाहरण देकर संस्कृति के स्वरूप को पुस्तक में समझाने का प्रयास है। लेकिन जो उद्धरण दिए गए हैं, उनसे पुस्तक सुबोध बनने से रह गई है। व्यक्ति अपने व्यवहार में 'मैं' और मेरा मन से संचालित होता है। क्या वह मन ही व्यक्तित्व बनाता है या वह शरीर का मात्र एक अंग होता है, जिसे मस्तिष्क कहा जाता है। इसे बहुत सरल तरीके से हमारे शास्त्रों ने समझाया है कि व्यक्तित्व के इकतीस अवयव होते हैं। उनमें मन एक होता है। अपने को सही रूप में समझने के लिए मन का संस्कार और परिष्कार जरूरी है और वह प्रक्रिया ही संस्कृति का रूप लेती है।

लेखक ने संस्कृति का रेखाचित्र इस तरह बनाया है कि उसकी रूपरेखा अमूर्त हो गई है। इसमें से जो संस्कृति झाँकती है वह पुस्तकीय ज्यादा है। उसका जनसंस्कृति

से कोई संबंध नहीं है। वह सुगठित और सुबोध होती तो अधिक सुगम्य हो सकती थी। भारतीय संस्कृति का भी स्पष्ट चित्र इसमें से नहीं उभरता है। भारतीय संस्कृति अनेक स्रोतों और धाराओं उपधाराओं से बनी है। उसका विवरण भले ही न हो लेकिन स्पष्ट वर्णन तो होना ही चाहिए। इस अभाव से भारतीय संस्कृति का यथार्थ और आदर्श पुस्तक में स्पष्ट नहीं हो पाया है यानी भ्रांतियाँ बनी हुई हैं। संस्कृति और समाज को समझाते हुए लेखक बताता है कि, 'किसी समाज का इतिहास एक ही संस्कृति के अर्थोन्मेष की प्रक्रिया नहीं हो कर संस्कृति के माध्यम से उसके आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्न का इतिहास कहा जा सकता है।'

इस आत्मसाक्षात्कार पर लेखक एक चेतावनी देता है कि उसकी दिशा भ्रष्ट भी हो सकती है। पश्चिम की यही स्थिति है। अगर इसे वे स्पष्ट कर सकते तो एक समाधान मिलता। इसमें सिर्फ संकेत भर किया गया है। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति की निरंतरता को चिह्नित करते हुए यह लेखक ने बताया है कि वह अनेक बार क्षीणकाय हुई है और तब अन्य धाराएँ प्रबल दिखाई देती हैं। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से क्या-क्या कुपरिणाम हो सकते हैं, इसकी ओर इशारा किया गया है। संस्कृति के कुछ आनुषंगिक पक्ष भी होते हैं, जो किसी समाज के स्वभाव के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं और अपना इतिहास बनाते हैं। वर्णव्यवस्था और कर्मफलवाद को लेखक ने इसी कोटि में रखा है। उन्होंने लिखा है कि दार्शनिक विचार में वर्णव्यवस्था की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु सामाजिक अस्तित्व की संपूर्ण रूपरचना में यह आधारभूत रही है।

इतिहास किसे कहेंगे? वह किन सिद्धान्तों पर बनता है। इसे अनेक उद्धरणों से स्पष्ट करने का जितना प्रयास किया गया है, उससे भ्रम का ही निर्माण हुआ है। मार्क्स की इतिहास दृष्टि से शुरूकर गोर्वाचेव तक के उद्धरण देने के बाद लेखक यह स्पष्ट नहीं करता कि वास्तव में इतिहास क्या है? क्या वह आर्थिक उत्पादनों और उनपर आधारित संबंधों की विकास परंपरा है या अतीत का लेखा-जोखा।

एक अन्तर का भी उल्लेख है कि, 'इसकी संरचना किसी अहं-प्रत्यय में अधिष्ठित नहीं होकर परमार्थ विषयक, अथवा कहें उस सत्-विषयक दृष्टि में अधिष्ठित होती है, जो सत् मनुष्य का साध्य होता है। इस दृष्टि को संस्कृति की आत्मा और अधिष्ठाता भी कहा जा सकता है, किन्तु इस महत्वपूर्ण अन्तर के साथ कि यह अधिष्ठातृत्व कर्तृत्वाभिमान और ज्ञातृत्वाभिमान से, कर्म और ज्ञानविषयक अस्मिता से, रहित होता है। किन्तु संस्कृति यह दृष्टिमात्र ही नहीं होती, उन सब क्रियाओं की विषयिता और विषयता भी संस्कृति ही होती है, जिनमें समाज-चेतना या समाजचित्त अपने को क्रियान्वित और व्यक्त करता है। संस्कृति-दृष्टि इस संपूर्ण व्यापार को एक मूल्यात्मक व्यवस्था में प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार सब समाजों में

दर्शन, विज्ञान, कलाएँ और अन्य रचना-विधाएँ देखी जा सकती हैं, जो समाज-विशेष के चरित्र के अनुसार प्रमुखता और गौणता के सोपान में व्यवस्थित होती है।’

यह अंश भी ध्यान देने योग्य है। इसका एक उत्तर कर्म-फलवाद के भारतीय सिद्धान्त में दिया गया है कि इसका स्वरूप पिछले कर्मों से निर्धारित होता है। किन्तु कर्म-फलवादियों ने ऐसा नहीं कहा है। उनका कहना था कि, ‘यह कर्म-परम्परा अनादि है। अनादिता को काल-वाचक अर्थ में लेने पर इसका अर्थ हो जाता है कि हम उस कारण-परम्परा में एक कड़ी मात्र हैं, जिसका निर्धारण कर्ता के द्वारा नहीं होता है और इस प्रकार हम निस्स्वरूप हैं और आत्म-प्रत्यय बाह्यतः प्रदत्त होता है। प्रकारान्तर से यही प्रतिपादन वैज्ञानिकवादियों का भी है। किन्तु यह विचार आत्मचेतना के स्वरूप की नासमझी पर आधारित है। निश्चय ही हम कारण-शृंखला की कड़ी भी हैं, किन्तु आत्मचेतन रूप में सदैव इससे स्वतंत्र और इसके निर्धारक भी हैं। यह बात संस्कृति के संबंध में भी उतनी ही सत्य है यह परम्परात्मक और इस प्रकार अपने इतिहास से निर्धारित भी होती है किन्तु यह मूलतः सृजनात्मक चेतना के आत्मचरितार्थन की प्रक्रिया भी है।’

यशदेव शल्य ने दूसरे संस्करण के प्राक्कथन में लिखा है कि, ‘इस पुस्तक का यह दुर्भाग्य रहा कि समाजशास्त्रियों ने इसे दर्शन की पुस्तक मान कर इसे अपने लिए अपठनीय माना और दार्शनिकों ने अपने क्षेत्र से बाहर की मान कर अपने को इससे परे रखा।’ हो सकता है यह सही हो। यही एकमात्र कारण नहीं है, जिससे इस पुस्तक से पाठकों ने अपनी दूरी बना रखी हो। सच तो यह है कि एक जिज्ञासु को यह पुस्तक अपनी भाषा, शिल्प और प्रस्तुति से निराश करती है। भाषा इतनी उलझी हुई है कि सामान्य पाठक इसे पढ़ते हुए कहीं पहुँचता नहीं है। वह लौट-लौट कर वहीं आ जाता है, जहाँ से शुरुआत करता है। अगर यह खोजा जाए कि लेखक पुस्तक के जरिये क्या संदेश दे रहा है तो यह समझना बहुत मुश्किल होगा। कुछ वाक्य तो समझ में आते हैं, लेकिन उनकी स्थापनाएँ हाथ से खिसक जाती हैं। ऐसा क्यों है, यह यशदेव शल्य ही बता सकते हैं।

समाज और संस्कृति को समझाने वाली पुस्तक ऐसी होनी चाहिए, जैसे बहता हुआ जल। इस पुस्तक में उद्धरणों की बहुलता है। इन उद्धरणों से निष्कर्ष पर पहुँचने में मदद नहीं मिलती, उलझन बढ़ती है। पुस्तक में संस्कृति का स्वरूप, समाज और इतिहास, भाषा, संप्रेषण, नैतिकता, न्याय, धर्म, सामाजिक परिवर्तन और आधुनिक भारत की विवेचना है। इन अध्यायों से पाठक यह समझना चाहता है कि समाज की चेतना कैसे बनती है और बदलती है। इसे समझाने के लिए यशदेव शल्य ने जो पद्धति अपनायी है वह विद्वानों के शास्त्रार्थ की है। जरूरत यह है कि समाज और संस्कृति की प्रचलित धारणाओं के घाल-मेल को दूर किया जाए। यह बताया जाए कि पश्चिम में जो अवधारणा विकसित हुई, उसका कितना प्रभाव हमारे समाज पर पड़ा है। यह

सिलसिला कब शुरू हुआ और कैसे उससे मुक्ति की चेतना भारतीय समाज में पैदा होने लगी। व्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार के सामाजिक और सांस्कृतिक दुष्परिणाम दुनिया के उन समाजों को झेलना पड़ रहा है, जो उससे मुक्त थे। औद्योगिक सभ्यता के काल में पश्चिम में यह अवधारणा इसलिए बनाई गई कि सत्ता और संपत्ति पर नियंत्रण को किसी तरह की चुनौती नहीं दी जा सके। दास प्रथा, सामन्तवाद, साम्प्रदायिकता, वर्ग हित आदि उसी अवधारणा की देन हैं। इस विचार से ही दूसरे समाजों को पश्चिम के विद्वानों ने देखा है और दिखाया है। उनके प्रभाव में विद्वान विचारहीनता और विवेकहीनता की हद तक जा कर अनुकरण करते रहे हैं।

तसलीमा और इस्लाम की स्त्री समस्या

शंकर शरण*

ब्रह्मपुत्र सुनो, मैं लौटूँगी।
सुनो शालवन विहार, महास्थान गढ़, सीताकुण्ड पहाड़
मैं वापस लौटूँगी।
अगर न लौट पाऊँ, मनुष्य के रूप में, लौटूँगी किसी दिन
पंछी ही बनकर।

तसलीमा नसरीन

1

तसलीमा नसरीन को आधिकारिक रूप से चेतावनी दी गई है कि संयम में रहें। गत वर्ष उत्तर प्रदेश सरकार में मन्त्री पद से हत्या का आह्वान करने वाले हाजी याकूब कुरैशी को किसी ने चेतावनी नहीं दी कि वह अपनी जुबान सँभालें। आतंकवादी मुहम्मद अफजल को सजा सुनाने वाले न्यायाधीशों की 'हत्या हो सकती है' वाला धमकाऊ बयान देने के लिए फारुख अब्दुल्ला को किसी ने नहीं टोका। आन्ध्र प्रदेश विधान सभा के विधायकों सैयद अहमद कादरी, अफसर खान और मोअज्जम खान को तसलीमा नसरीन के खाल्मे का प्रयास करने और 'आइन्दा न चूकने' की घोषणा करने पर भी उन पर अंकुश लगाने का विचार किसी को न आया। ऑल इण्डिया इब्लेहाद काउंसिल के नेता तकी रजा खान द्वारा तसलीमा के कत्ल के लिए पांच लाख का ईनाम रखने पर भी उसे हमारे किसी सत्ताधारी ने नहीं बरजा। 21 नवम्बर को कलकत्ता में संगठित हिंसा आयोजित करने वाले कांग्रेस नेता इद्रीस अली को अभी तक किसी ने नहीं फटकारा है। किन्तु तसलीमा को कभी पहले दो सीधी-सच्ची बात के लिए हमारे रहनुमाओं ने अभी सार्वजनिक रूप से घुड़का है! पूरी सम्भावना है कि आगे तसलीमा को निष्कासित कर दिया जाएगा।

* IV/28, NCERT Quarters, Plot No. 9, Pocket-6 Nasirpur, Dwarka, New Delhi-110045

एक अर्थ में तसलीमा रूपी यह अकेली, निर्वासिता नारी एक दर्पण बन गई है जिसमें हम अपना और सबका चेहरा देख सकते हैं। हमारा लोकतन्त्र, सेक्यूलरिज्म, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, कानून का शासन, मीडिया का अहंकार, न्याय व्यवस्था का रौब, इस्लामी कट्टरपंथियों का 'मुट्ठी-भर' होना, उदारवादी मुसलमानों का हवाई अस्तित्व, फेमिनिस्टों की उग्र दयनीयता और मानवाधिकार आयोग की वास्तविकता सभी इस दर्पण में देखे जा सकते हैं। तसलीमा कितनी अकेली, दर-दर भटकी और किसी तरह अपनी घर वापसी की कैसी भूखी है, यह उसकी आत्मकथा *मुझे घर ले चलो* पढ़ने वाला कोई भी निस्सन्देह महसूस कर सकता है। विशेषतः भारत के पूर्वांचल क्षेत्र का कोई भी पाठक उन शब्दों, बिम्बों और मुहावरों से अनछुआ नहीं रह सकता जो उसमें लेखिका की आत्मा की पुकार बनकर रह-रहकर उठते हैं। और यही अकेली अबला अभी वह आइना बन गई है जिसमें हमारे सत्ताधीश, न्यायाधीश, मीडियाधीश, मानवाधिकाराधीश और बौद्धिक विचाराधीश अपनी-अपनी शक्तें देख सकते हैं।

इस आइने में उन सत्ताधीशों की असलियत पहचानी जा सकती है जो किसी मुस्लिम सन्दिग्ध आतंकवादी से पूछ-ताछ होने पर भी उसके दुःख से अपनी रात की नींद खो बैठते हैं। वही सत्ताधीश एक शरणार्थी लेखिका पर कातिल गिरोहों के लगातार हमलों से निर्विकार रहते हैं। यही नहीं, उन्हें अपना कर्तव्य, संविधान के अनुपालन की शपथ, अपने हाथों में विशाल सैन्य, प्रशासनिक शक्ति आदि किसी का ध्यान नहीं आता। सब कुछ अनदेखा किए वे इस प्रकार बैठे रहते हैं मानो उनका दोहरापन अब भी किसी से छिपा रह गया है। हमारे न्यायमूर्ति मंत्रियों से लेकर सम्पादकों, स्कूल मालिकों की गलतियों का संज्ञा न लेते हैं। वे संविधान की शपथ खाकर विधायक, मंत्री बने उन मुस्लिम महानुभावों का भी संज्ञान लें तो ठीक होगा।

इसी दर्पण में उन 'एग्रेसिव' पत्रकारों को भी पहचाना जा सकता है जो अपनी कुटिल भंगिमा व चतुराई के साथ विष-बुझे या अपमानजनक प्रश्न केवल जयललिता, मुरली मनोहर जोशी या 'इण्डियन स्टेट' से ही पूछ सकते हैं। और यही सब कर-करके वे तरह-तरह के विदेशी ईनाम पाया करते हैं। किन्तु कितना भी क्रूर, जोरदार मामला क्यों न उठा हो, किसी मुफ्ती, बुखारी, मौलाना, कुरैशी या खान से कोई गम्भीर साक्षात्कार लेने का भी उन्हें विचार नहीं आता। ऐसी मुस्लिम हस्तियों को कभी 'कॉर्नर' या 'एक्सपोज' करने अथवा असुविधाजनक प्रश्न पूछने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। वहाँ हमारे स्टार पत्रकारों के देवता भी कूच कर जाते हैं। इस्लामी उग्रवाद की सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी कोई लेख छापने में भी सम्पादक सहमकर मुँह सीं लेते हैं।

देशी-विदेशी मानवाधिकार संगठनों, आयोगों की निर्लज्जता तो इतनी प्रत्यक्ष हो चुकी है कि उनके बारे में अब सभी समझ चुके हैं कि वह कहाँ सुओ मोटो दौड़ पड़ेंगी

और कहाँ सोई रहेंगी। लाख जगाने पर भी नहीं जगेंगी। लिहाजा तसलीमा नसरीन पर हमला करने, मौत की धमकी देने वालों और उसके कल्ल के लिए बारहा ईनाम घोषित करने वाले जाने-माने राजनीति-पुरुषों को भी मानवाधिकार आयोग ने कभी कोई नोटिस नहीं दिया तो तसलीमा के दर्पण में उनकी छवि कुरूप होकर उभरी है।

सबसे बढ़कर इस दर्पण में उन बुद्धिजीवियों को पहचाना जा सकता है जो दूर अफगानिस्तान, ईराक, क्यूबा, अफ्रीका, आदि के सम्बन्ध में किसी शासक या घटना पर अविलम्ब उद्वेलित होते रहे हैं। उसके विरुद्ध या पक्ष में चन्दे जुटाने, पर्चे लिखने, जुलूस निकालने या मोमबत्तियाँ जलाने में उनका उत्साह स्कूली बच्चों को भी मात देता है। किन्तु तसलीमा नसरीन, जो साहित्य-संस्कृति कर्म की दृष्टि से उनकी सगी बहन होती है, इस अबला के लिए उनकी जुबान से कभी स्पष्ट शब्द नहीं निकले हैं। किसी तरह कुछ 'किन्तु-परन्तु' जोड़कर बोलने वाले बुद्धिजीवियों ने भी वास्तव में इस्लामी कट्टरपंथियों का, ही समर्थन किया है। विश्वास न हो, तो उनके द्वारा हाल में दिल्ली में बनाई गई मानव-शृंखला का समाचार पढ़ लें। वह शृंखला तसलीमा नसरीन 'मामले' पर ही आयोजित हुई थी। पर उनका आक्रोश तसलीमा पर हमला करने वालों पर नहीं था! वस्तुतः उस पूरे आयोजन में इस्लामी आतंकवादियों, अपराधियों और हिंसक आह्वान करने वालों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया था। सारा रंज इस पर व्यक्त किया गया था कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने 'भाजपा को एक हथियार थमा दिया है'! इससे क्या यह आइने की तरह साफ नहीं कि इन बौद्धिक प्रदर्शनकारियों का असली निशाना हिन्दू समाज है, इस्लामी आक्रमणकारी नहीं? इसीलिए उन्होंने तसलीमा पर प्रहार करने वालों के विरुद्ध किसी कार्रवाई की माँग नहीं की। इस आइने में हम उनकी वास्तविकता भी बखूबी पहचान सकते हैं।

और हाँ, उस मजहबी विचारधारा की शक्ति की असलियत भी इस तसलीमा रूपी दर्पण में दिखती है। जो विचारधारा एक अबला की दो आलोचनात्मक पंक्ति झेलने की ताब नहीं रखती। जिसे उन शब्दों से ऐसी घबराहट होती है मानो यदि उसे और चार लोग भी दुहराने लगे तो इस विचारधारा का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। ठीक इसीलिए वे ऐसा कहने वाले के विरुद्ध तुरत मौत का फतवा जारी और लागू करते रहते हैं। कृपया विचार करें : ऐसी विचारधारा वस्तुतः कितनी निर्बल है! ऐसी विचार-विश्वास पद्धति कितने दिन खैर मनाएगी! वह कब तक लोगों को स्वयं अपने अनुयायियों को भीधमका-धमकाकर चुप रखेगी? कब तक लोग उसकी हिंसक धमकियों की असलियत समझे बिना रह सकेंगे, कि हर बात में हिंसा की धमकी के पीछे एक विराट बौद्धिक खोखलापन है। साथ ही एक मर्तांतक भय भी। यह भय कि कहीं लोग उसके भय से भयभीत होना बन्द न कर दें। देर-सवेर वह दिन आएगा। जरूर आएगा। इब्न वराक, सलमान रुशदी, हामिद दलवई, वफा सुलतान, अय्यान

हिरसी अली, इरशद मौंझी, बात येओर, तसलीमा नसरीन...यह सूची बढ़ती जा रही है। सब लोगों को, सदैव, हर कहीं, धमकी दे-देकर चुप नहीं रखा जा सकेगा। जब दुनिया इस्लामी प्रवक्ताओं को शब्दों का जवाब तलवार से देने की इजाजत नहीं देगी, तब क्या होगा...इस दर्पण में इसकी झलक भी छिपी है।

2

इस्लामी कट्टरपंथी बंगलादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन को भारत से निकालने के लिए दबाव डाल रहे हैं। इस पर तथाकथित उदारवादी मुस्लिमों की चुप्पी तथा किन्तु-परन्तु ने एक बार पुनः स्पष्ट किया कि विचारों में वे भी कट्टरपंथियों से मूलतः भिन्न नहीं होते। केवल उनके तरीके जुदा होते हैं। बच गए हमारे सेक्यूलर, वामपंथी और नारीवादी। अब यह कोई भी देख सकता है कि मुहम्मद अफजल जैसे आतंकवादियों के पक्ष में भी 'अधिकारों' के जोशीले भाषण देने वालों एवं देने वालियों ने तसलीमा के लिए कुछ न कहा। मुखर नारीवादियाँ भी इस्लामी मामलों पर मुँह सीं लेती हैं। शाहबानो से लेकर तसलीमा तक कितने भी करुण प्रसंग क्यों न उठें, सदा 'जेण्डर' 'जेण्डर' रटने वालों और नारी आरक्षण की माँग बुलन्द करने वालों का स्वर तब नहीं सुनाई पड़ता। सबके सब मानो सामूहिक अवकाश पर चले जाते हैं! इन्हीं कारणों से इस्लामी कट्टरपंथ को पूरी दुनिया पर अपनी जबर्दस्ती थोपने का बल मिलता है।

कभी डॉक्टर रही तसलीमा का अपराध यह है कि उसने मुस्लिम स्त्रियों की दुर्गति पर निरन्तर आवाज उठाई है। कितनी भी धमकियाँ मिलने पर भी वह मौन नहीं हुई। तसलीमा नसरीन की प्रसिद्ध पुस्तक *लज्जा* और *द्विखण्डितो* में कितनी कड़वी सच्चाई है, इसे मुस्लिम स्त्रियाँ अच्छी तरह जानती हैं। यह केवल बंगलादेश या भारत की बात नहीं है। ईरान की वफा सुल्तान, युगांडा की इरशद मौंझी की पुस्तक *द ट्रबुल विद इस्लाम टुडे*, तथा पाकिस्तानी फहमीना दुरानी की *माई फ्यूडल लॉर्ड* आदि के विवरण इसके प्रमाण हैं कि सम्पूर्ण विश्व में मुस्लिम स्त्रियाँ कमो-बेश एक जैसे अत्याचार झेल रही हैं। तसलीमा के अनुसार, "इस्लामी समाज में महिलाओं के साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया जाता है। उन्हें सिर्फ एक वस्तु और बच्चे जनने वाली मशीन समझा जाता है। यदि कोई स्त्री इस पर बोलती है तो उसे तरह-तरह से जलील होना पड़ता है।" सरसरी तलाक प्रथा पर तसलीमा कहती हैं कि पुरुषों द्वारा स्त्रियाँ लाना-छोड़ना जूठे भोजन फेंकने जैसा कार्य नहीं होना चाहिए।

विवाह सम्बन्धी इस्लामी मान्याएं कितनी विचित्र हैं, यह हमारे देश में पिछले वर्षों में गुड़िया, हसीना और इमराना जैसी स्त्रियों की दुर्गति से भी समझा सकता है। हाल में न्यायालय द्वारा इमराना के श्वसुर को उसके बलात्कार का दोषी पाने के बाद भी उलेमा ने अपनी जिद दुहराई कि हमराना का पति उसे 'हराम' समझकर छोड़ दे,

क्योंकि उसके बाप द्वारा बलात्कृत होकर वह मानो उसकी चीज हो गई है, अतः उसी बाप के बेटे, यानी अपने ही पति के लिए 'हराम' हो गई! ऐसे दारुण मामलों को सीमित रूप में देखकर, पीड़िता को कुछ गुजारा या हर्जाना देने की बात करके छोड़ दिया जाता है। हम उसके विस्तृत फलक, उसके मजहबी आधार को नहीं देखते, जिससे ऐसी समस्याएँ पैदा होती हैं।

गम्भीरता से विचारें तो स्पष्ट होगा कि इस्लाम की स्त्री सम्बन्धी सभी मान्यताएँ, कायदे और टीका-टिप्पणियाँ निकाह, मेहर, इद्दत, सरसरी तलाक, बहुपत्नी प्रथा, रखलें रखने, मुता'ह इलाह, भगांकुर हटाने या लड़कियों के खतने (infibulation), बिना बुरके की स्त्री को 'खुला माँस' कहने जिसका बलात्कार करने में बलात्कारी दोषी नहीं, (अस्ट्रेलिया के इमाम मुफ्ती शेख ताजुलुद्दीन का कथन) आदिसबकी सब पुरुष व स्त्री के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित धारणा की व्युत्पत्ति हैं। अफ्रीका के कम-से-कम अट्ठाईस मुस्लिम देशों में मात्र उस खतने की बर्बरता के चलते सालाना हजारों लड़कियों की जान चली जाती है। अन्य संत्रास अलग। यूरोप के लोकतांत्रिक कानूनों को अँगूठा दिखाकर वहाँ रहने वाले मुस्लिम समुदाय में उलेमा द्वारा बहुपत्नी प्रथा? बुरके, तीन तलाक, स्त्रियों की पिटाई, प्रतिष्ठा के नाम पर हत्या जैसी बर्बर प्रथाएँ लागू हैं। इन भयंकर प्रथाओं का उत्स, समर्थन कहाँ से निःसृत होता है?

यह ठीक है कि विभिन्न मुस्लिम देशों में स्त्री सम्बन्धी सभी इस्लामी कायदे और मान्यताएँ एक जैसे लागू नहीं हैं। किन्तु उसमें प्रायः उलेमा की शक्ति-सीमा या राजनीतिक विवशताओं की भूमिका है। इसीलिए तुर्की या ईराक में किन्हीं 'सुधारों' का कोई प्रभाव अन्य मुस्लिम देशों अथवा इस्लामी विमर्श पर नहीं पड़ता। अतः केन्द्रीय बात यह है कि स्त्री सम्बन्धी सभी इस्लामी कायदों में एक तारतम्य, एक संगति है। वह एक विशिष्ट विचारधारा से बनी मानसिकता की उत्पत्ति हैं, जिसकी खुली समीक्षा किए बिना मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक बनाने के प्रयास वृथा होंगे। इसमें स्वयं मुस्लिम स्त्रियों को तो उठना ही होगा। किन्तु उन्हें गैर-मुस्लिम समाज के सक्रिय सहयोग की भी आवश्यकता है। इस्लाम को वैचारिक चुनौती देने का कार्य बाहर से ही हो सकता है। दुर्भाग्य से इस पर भारतीय हिन्दू अर्थात् सेक्यूलर हिन्दू बुद्धिजीवियों की भूमिका अब तक शून्य है। इनकी चुप्पी से कट्टरपंथियों को प्रोत्साहन मिलता है। सेक्यूलर बुद्धिजीवी इससे इस कारण कतराता है कि उसे इस्लाम का आलोचक न माना जाए। उनके मौन ने मुस्लिम स्त्रियों की दुर्गति यथावत रखने में ही सहयोग दिया है। इस्लामी कट्टरपंथियों द्वारा पाकिस्तान, बंगलादेश से लेकर भारत तक मुख्तारन माई, इमराना और तसलीमा का निरंतर उत्पीड़न इसी का प्रमाण है।

आतंकवाद और धमकियों के बावजूद इस्लाम में स्त्रियों, काफिरों की स्थिति के बारे में चर्चाएँ और उस समीक्षा की माँग उठती रहती हैं। इसकी लम्बे समय तक

उपेक्षा नहीं की जा सकती। तसलीमा की बातों पर उलेमा की क्रुद्ध भंगिमा इसकी पुष्टि ही करती है कि वे इस विषय से कतराना चाहते हैं।

3

यद्यपि भारतीय सन्दर्भ में देखें, तो तसलीमा नसरीन का सबसे बड़ा अपराध दूसरा है, जिसकी चर्चा नहीं होती। वह यह कि उसने बंगलादेश में हिन्दुओं पर होते रहे अत्याचार पर भी सीधी आवाज उठाई, जिनके लिए विश्व भर में कोई नहीं बोलता! कोई हिन्दू भी नहीं। चाहे बंगलादेश, फिजी हो या स्वयं भारत के कश्मीर, हिन्दुओं के लिए बोलने वाला कोई नहीं। (और क्यों बोले? जब यह समुदाय अपने लिए बोलने में स्वयं सकुचाता हो!) वस्तुतः मुस्लिम कट्टरपंथ और मुस्लिम उदारवाद में भी अपनी स्त्रियों की स्थिति पर जो असहमति हो, किन्तु गैर-मुसलमानों के प्रति रुख में वे प्रायः एकमत दिखते हैं। कृपया ध्यान दें, पूरे मुस्लिम इतिहास में इस पर कभी कोई मुस्लिम स्वर नहीं उठा कि गैर-मुसलमानों के साथ इस्लाम ने क्या उत्याचार किया। यही स्वर उठाकर तसलीमा ने अपने को उन मुस्लिमों के लिए भी त्याज्य बना लिया जो स्वयं को उदारवादी कहते हैं।

और यही मुख्य कारण है कि हमारे देश के 'पेज-थ्री' हिन्दू उदारवादी भी तसलीमा से कतराते हैं। विभिन्न किस्म के वामपंथी, सेक्यूलर कार्यकर्तागण हर तरह की 'सेलिब्रिटी' के साथ फोटो खिंचवाने को लालायित रहते हैं। अपने कार्यक्रमों में उन्हें बुलाकर धन्य होते हैं। किन्तु जैसे रेडिकल भी तसलीमा से बचते हैं! क्योंकि तसलीमा ने एक वर्जित विषय-बंगलादेश में हिन्दुओं की दुर्गतिको भी प्रकाशित कर दिया। इसीलिए वह हमारे उच्च, बौद्धिक वर्ग के लिए अछूत हो गई! एक अर्थ में मुस्लिम उदारवादियों से भी गई-बीती स्थिति हिन्दू उदारवादियों की है। इनका पहला दुराव हिन्दू पहचान से है। इनके शेष सभी विचार, योजनाएँ और गतिविधियाँ इसी की व्युत्पत्ति हैं। तसलीमा ने अपनी पुस्तक लज्जा में बंगलादेश में हिन्दुओं की दुर्दशा का बेबाक चित्रण करके हमारे इन झूठे सेक्यूलरवादियों की इस असलियत को बेपर्दा कर दिया।

इसी पाप के लिए भारत का हिन्दू सेक्यूलर-उदारवादी-वामपंथी उसे क्षमा नहीं कर सकता! वह आतंकवादी मुहम्मद अफजल के पक्ष में खड़ा हो सकता है, किन्तु विदुषी तसलीमा नसरीन के लिए हरगिज नहीं। क्योंकि तसलीमा ने उनके शत्रुमुर्गी पाखण्ड को उघाड़ कर रख दिया। उत्पीड़ित हिन्दुओं के लिए बोलना भारतीय सेक्यूलर-उदारवादी प्रतिज्ञा में मना है। इसी कारण हमारे 'एग्रेसिव' पत्रकार और इन्टरव्यू करने वाले भी तसलीमा से कन्नी काटते हैं। बंगलादेश में तसलीमा के अखबारी स्तम्भ लोकप्रिय थे। किन्तु भारत में किसी समाचार-पत्र ने उन्हें कॉलम

लिखने का आमन्त्रण नहीं दिया। यह अनायास नहीं है कि तसलीमा को यहाँ विद्वत् सेमिनार, गोष्ठियों में भी नहीं बुलाया जाता है। चाहे विषय ठीक स्त्रियों की स्थिति से क्यों न सम्बन्धित हो, जिस पर प्रमाणिक रूप से लिखने-बोलने का काम तसलीमा करती रही हैं। यह सारी बातें न समझना स्वयं को धोखा देना है।

तसलीमा सच्ची मानवतावादी हैं, आत्म-प्रचार चाहने वाली मक्कार 'मानवाधिकारवादी', 'ग्लोबल नागरिक' या 'गाँधीवादी' नहीं। उन्होंने अपनी सत्यनिष्ठा के लिए कष्ट सहा और आज भी उसके लिए परिणाम भुगतने को तैयार हैं। इस्लाम में सुधार का प्रश्न उन्होंने साहस से उठाया है। न केवल इस्लाम में स्त्रियों और गैर-मुस्लिमों की स्थिति, बल्कि विचार-स्वातन्त्र्य और खुले विमर्श की कमी का प्रश्न भी। यह प्रश्न कि मनुष्य के लिए उसकी अन्तरात्मा, उसका विवेक ही अन्तिम मार्गदर्शक हो सकता है, कोई अन्तिम पुस्तक नहीं। इसीलिए एक बार तसलीमा ने कहा था कि कुरान व इस्लामी विश्वासों में पूर्ण सुधार अपेक्षित है अन्यथा मुस्लिम स्त्रियों की दुर्दशा जस की तस रहेगी। यही कहने के लिए तसलीमा पर उलेमा ने मौत का फतवा जारी किया था, जो उनके सिर पर सदैव मँडराता रहता है। दरअसल तसलीमा की बात में दम है, जिसे मन-ही-मन हमारे डरु सेक्यूलरवादी भी मानते हैं।

फिर भी, कुरान में सुधार की माँग उपयुक्त नहीं थी। वरेण्य चिन्तक राम स्वरूप ने कहा था, "किसी सदियों पुरानी श्रद्धेय किताब को वैसे भी यथावत रहने का अधिकार है। कोई किताब उसका लेखक ही सुधार सकता है, किसी अन्य को वह करने का अधिकार नहीं। जो उस किताब से असहमत हैं, वह अपनी बात लिखें। नए नियम और प्रस्ताव दें, वह अधिक उपयुक्त होगा"। अतएव, कुरान की आलोचनात्मक समीक्षा, उसका खुले हृदय से विवेक-पूर्ण परीक्षण ही उपयुक्त है। उसमें दिए ऐसे विचार त्यागे जा सकते हैं जिनसे स्त्रियों और गैर-मुस्लिमों का अपमान होता और चोट पहुँचती हो। उसके बदले नए विचार स्वीकारे जाएँ जिससे स्त्रियों का मान-सम्मान और विभिन्न धर्म-विश्वासियों के बीच सामाजिक सामंजस्य बढ़ता हो।

इस प्रसंग में इरशद माँझी का सुझाव महत्वपूर्ण और रचनात्मक है। वह कहती हैं कि इस्लाम का आलोचनात्मक जिक्र होते ही मुसलमानों द्वारा क्रुद्ध हो जाना उचित नहीं है। कानों में ऊँगली डाल लेना और 'इस्लाम शान्ति और बराबरी का मजहब है' की रट लगाना भी ठीक नहीं। इससे उनकी पवित्र पुस्तक से उभरती नकारात्मक आवाजों पर चर्चा को डुबा दिया जाता है। अच्छा हो कि मुसलमान सच्चाई स्वीकार करें। इरशद के विचार में यह जरूरी नहीं कि इस्लामी पुस्तकों से उन नकारात्मक आवाजों को मिटा दिया जाए या संशोधित कर दिया जाए। केवल यह मान लिया जाए कि ऐसी चीजें उसमें हैं, जो गलत या हानिकारक सन्देश देती हैं। बस। मुस्लिम समाज द्वारा यह स्वीकार कर लेना वही कार्य होगा जो अपनी पवित्र पुस्तकों के बारे में यहूदी और ईसाई समुदाय पहले ही कर चुका है। एक अमेरिकी विशप के शब्दों में, 'बाइबिल

विशेषकर ओल्ड टेस्टोमेंट में लिखी कई उग्र और हिंसात्मक बातें 'पवित्र पुस्तक के पाप' (sins of Scripture) हैं। इरशद कहती हैं कि यदि मुसलमान भी अपनी पवित्र पुस्तक की ऐसी कमजोरी मान लें तो यह एक बड़ा रचनात्मक कदम होगा। इससे दुनिया समझेगी कि मुसलमान भी विवेकपूर्ण ढंग से सोच-विचार कर सकते हैं। इससे उनका दूसरे समुदायों के साथ मैत्री और विश्वास का पुल बनना शुरू हो जाएगा।

यहाँ इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि जो लोग इस्लामी प्रावधानों, कुरान और शरीयत की पुनर्व्याख्या करके कोई रास्ता निकालना चाहते हैं, प्रायः वे उल्टे फँस जाते हैं। वे आज की नैतिकता के अनुकूल कुरान और हदीस के आदेशों की घुमावदार तथा जैसे-तैसे व्याख्या करके उसे हर हाल में आज भी उचित, मानवीय बताने, बनाने का उपक्रम करते हैं। किन्तु इस चक्कर में होता यह है कि इन मानवीय तर्कों का उपयोग कुरान को ही यथावत् रूप में चिरंतन, सामयिक दिखाने में होने लगता है। ऐसी पुनर्व्याख्याओं से उन विचारों को ही और बल मिल जाता है जो स्त्रियों तथा काफिरों की स्थिति तय करती हैं। अतः वह मान्यताएँ जहाँ और जिस स्थिति में हैं, उन्हें वहीं और उसी स्थान पर चुनौती दिए बिना कोई और उपाय नहीं है।

यह सहजता और सद्भाव के साथ भी किया जा सकता है। आज दुनिया में बहुत सी सभ्यताओं के बारे में संयत ढंग से पढ़ा-पढ़ाया जाता है। उनकी अच्छी बातें भी और बुरी भी। इस्लामी सभ्यता इसका अपवाद नहीं हो सकती। उसका कोई कारण नहीं। अतः एक बार यदि मुस्लिम समुदाय इस्लाम के 'एक मात्र सत्य' होने या त्रुटिहीन होने की जिद छोड़ दे, तो उनमें विवेकशील ढंग से विचार स्वतः आरम्भ हो जाएगा। तब मुस्लिम नई पीढ़ियों को यह मानने में संकोच नहीं होगा कि दुनिया में कई तरह के लोग व कई तरह के विश्वास मौजूद हैं, और इसमें कुछ भी अनुचित नहीं। व्यवहार में असंख्य मुस्लिम यह मानते भी हैं। केवल सैद्धान्तिक रूप से उनकी जिद भिन्न होती है। किन्तु अन्ततः उन्हें यह समझना ही होगा कि दुनिया की प्रत्येक परिघटना, इतिहास या विज्ञान, रीति-रिवाज, चाल-चलन, शासन-कानून, भाषा-संस्कृति, आदि का इस्लाम के अनुरूप होना या बनाया जाना जरूरी नहीं। यह मानसिकता बनने पर ही दूसरे समुदायों के साथ परस्पर सहयोग तथा जियो और जीने दो की भावना सहज रूप लेगी।

किन्तु अभी यह होना दूर है। यह कोई संयोग नहीं कि इस्लाम ने अपने इतिहास में गैर-मुस्लिमों के साथ जो किया, उसके प्रति मुस्लिम विश्व में कभी अफसोस का स्वर नहीं उठा है। इसका मौन अर्थ यह है कि उन बातों को मुस्लिम विश्व आज भी उचित मानता है। अतः गैर-मुस्लिम उदारवादियों को इस्लामी समाज के नेताओं, जो मुख्यतः कट्टरपंथी उलेमा ही हैं, की लल्लो-चप्पो छोड़ तसलीमा जैसे स्वयं को ही समर्थन देना चाहिए। तभी कट्टरपंथियों को बचाव की मुद्रा में आने को विवश होना पड़ेगा। तभी इस्लामी समाज में परिवर्तन का मार्ग खुलेगा। वर्तमान स्थिति

में मुस्लिम सुधार आन्दोलन को गैर-मुस्लिम समाज के विवेकशील लोग ही बल पहुँचा सकते हैं। क्योंकि स्वतन्त्र, लोकतांत्रिक, गैर-मुस्लिम देशों के लोगों पर इस्लामी विचार-तन्त्र जबरन लादना सम्भव नहीं। इसीलिए यदि हिन्दुओं, ईसाइयों में सच्चे उदारवादी सच को सच कह सकें तो वास्तव में उन लाखों मुसलमानों की भी मदद होगी जो उलेमा की जकड़ के भय से बोल नहीं पाते।

ऐसा नहीं कि इन बिन्दुओं पर मुस्लिम विश्व में कहीं कोई चर्चा नहीं हो रही है। मिस्र और इंडोनेशिया में कभी-कभी मुस्लिम नेता इस्लामी आदेशों में सुधार या उनमें कुछ को छोड़ने की बात करते रहे हैं। पाकिस्तानी आलिम फजलुर्रहमान का भी कहना था कि मुसलमान बदले समय को देखते हुए कुरान की पुनर्व्याख्या कर सकते हैं। विशेषकर जिहाद सम्बन्धी धारणाएँ, चार पत्नियाँ रखने, तीन तलाक सम्बन्धी मनमानी प्रथा, शरीयत द्वारा हाथ काट लेने, पत्थर मार-मारकर मार डालने जैसी व्यवस्थाओं को बदला जा सकता है। यदि मुसलमान यह कर सकें तो न केवल दुनिया में दूसरे समुदायों के साथ उनका शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव होगा, बल्कि उनका पिछड़ापन भी दूर होगा और वे पुनः तरक्की के रास्ते पर आ जाएँगे। मोरक्को और मलयेसिया के मुस्लिम शासकों द्वारा भी इसी प्रकार के सुधार की प्रेरणाएँ दी जा रही हैं।

निर्वासित नारी की कविता*

तसलीमा नसरीन**

निर्वासन का दर्द झेल रही तसलीमा नसरीन की एक बँगला कविता का हिन्दी अनुवाद सम्पादक :

इस बार जाड़े में माँ क्या कर रही है? क्या कर रही है माँ? क्या कुछ कर रही है माँ, मैं यहाँ महसूस कर रही हूँ। आँखें मूंदते ही मुझे दिखाई देने लगती है।
आ रहा है जाड़ा, समय हो गया है आँगन में चटाई बिछाकर रजाई को धूप दिखाने का
माँ मेरी रजाई और कम्बल डाल रही हैं धूप में, उन्हें तहा रही हैं,
गावतकिए में भर रही हैं रूई, धुनक रहे हैं आँगन में रूईधुनिए।
जाड़ा आते ही शुरू हो जाती है माँ की ऐसी व्यस्तताभरी भाग-दौड़।
इस बार भी जाड़े में धूप दिखाकर
रजाई माँ ने रख दी है बिस्तर पर करीने से।
इस बार के जाड़े में भी अचार का मर्तबान रखा है धूप में,
इस बार के जाड़े में भी भापापीठा बनाने की हँडिया और
लत्तों का इन्तजाम
कर रही हैं माँ!
यह सब किसके लिए?
कौन है घर में जो जाड़े-भर रजाई में सिकुड़कर, मन-ही-मन
खूबसूरत चाँदनी में, अरण्य में, लकड़ियाँ बीनकर तापती है आग,
मेरे सिवा।
और कौन है घर में जिसके लिए रह-रहकर गर्मागर्म चाय, तले मुरमुरे,
दोपहर होते ही आम और लिसोड़े का आचार
भोर का खजूर रस और पीठापूली*किसके लिए?

*चावल से बनी मिठाई

** तस्लीमा नसरीन : "मुझे घर ले चलो", (आत्मकथा) (नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2007) से साभार। अरुण माहेश्वरी से फोन पर अनुमति प्राप्त।

इस बार के जाड़े में स्कैंडेनेविया में, डूबी हुई हूँ बर्फ और अँधेरे में
 पता है मैं लौट नहीं सकती, माँ जानती हैं मेरे न आने की बात,
 धूप-भरे आँगन और कढ़े हुए कांथा ने नेपथलीन की गन्ध पर
 आकर सोएगी पड़ोस की बिल्ली
 यह जानते हुए भी माँ क्यों धूप दिखाती हैं मेरे कांथा-कपड़े, रजाई,
 कपास की रूई के तकिए को।
 सब जानते हुए भी माँ क्यों रोती हैं फोन पर फूट-फूटकर,
 जब मैं दुनिया के आखिरी छोर से देती हूँ सुसंवाद 'मैं ठीक हूँ।'
 अबूझ है मेरी माँ अँगुलियों पर गिनती हैं दिन,
 बरामदे में खड़ी करती हैं प्रतीक्षा।
 अचानक पूछ बैठती हैं, 'कब आ रही हो तुम? तुम तो यहाँ आकर
 सोओगी अपने बिस्तर पर, कहानी सुनते हुए नदी के घर के भूत की
 और वन के लकड़हारे की, मेढ़क राजकुमार की और...
 माँ क्या अगले जाड़े में भी मेरे लिए धूप दिखाएँगी
 गढ़े, रजाई, अचार के मर्तबान को।
 और दरवाजे की साँकल बजते ही हँसिए से काटती मछली को
 छोड़कर वैसी ही
 दौड़ेंगी यह देखने कहीं मैं तो नहीं!

जिसे भी देखती हूँ, उसी से कहती हूँ अब, घर लौटूँगी, कोई नहीं समझता कि मैं क्या
 कहना चाहती हूँ। मैं लोगों से कहती हूँ। उड़ते हुए पक्षियों से कहती हूँ! भूमध्यसागर
 के तट पर, उदास बैठी थी, सीगल, समुद्री-पंछी इधर-उधर उड़ानें भर रहे थे। पंछी उड़
 रहे थे, लौट-लौट आते थे। ये सीगल पक्षी जहाँ-तहाँ उड़ सकते हैं, मैं नहीं! मेरा संसार
 इस छोटे से सीगल पक्षी से भी छोटा है।

पृथ्वी में सभी की होती है अपनी नदी और होता है समुद्र,
 मेरे घर के बगल में है एक नदी,
 और मेरे देश के दक्षिण में अभी भी है एक समुद्र,
 अभी भी वे क्रोधित होती हैं, झपटती हैं, पालतू बनती हैं
 और उस पालतू जल में वर्षा और बैसाख में धमाल मचाते हैं गाँव के किशोर।
 भूमध्य सागर में तैरती हुई सीगलों को देखकर
 पंछी बनने का बेहद मन करता है आजकल, इच्छा करती है तैरने की,
 जल में, हवा में
 तैरते-तैरते एक दिन ब्रह्मपुत्र के कीचड़ में मन करता है लोटने का,
 कटी पतंग की तरह

तिरते हुए पहुँचूँ अपने गोल पोखर तट वाले घर के नल के नीचे
 सेमल की रूई की तरह एक दिन।
 सीगल अपने पंखों पर मुझे सवार कराओगी?
 उस पार है मेरा एक बेहद परिचित सागर
 एक बेहद परिचित नदी भी।
 मेरा बेहद परिचित जीवन है एक देश में
 जहाँ अपना दिल मैं छोड़ आई हूँ वीरान मैदान में, आम-कटहल वन में,
 लीची तला में।
 छोड़ आई हूँ अपना दिल बस्ती, पोखर, सँकरी गली में,
 जहाँ काले-काले बच्चे झपटते हैं कौओं की थाली पर
 जहाँ के असंख्य लोगों के सीनों पर झुकी रहती है नीली मौत,
 जहाँ पर फिर से खिलते हैं चम्पा के फूल
 मुर्दों की खोपड़ी से।
 सीगल अपने पंखों पर सवार कराके एक दिन खूब तड़के,
 चुपके से, बिना किसी को जताए,
 भूमध्यसागर से मुझे पहुँचा दोगी मेरे बंगोपसागर में?

मैंने महसूस किया है कि असंख्य लोग हाथों में तलवार, छुरा, दौंव, कुल्हाड़ी उठाए, मेरी
 तरफ बढ़े आ रहे हैं। मैं दौड़कर भाग जाना चाहती हूँ मगर भाग नहीं पाती क्योंकि
 उन लोगों ने मुझे दबोच लिया है। उन लोगों ने मुझे पकड़ लिया और पटक दिया है।
 मुझे चीर-फाड़कर चले गए।

उन लोगों ने पहले, कार्टीं मेरी जाँघें
 माँस के लोथड़े के अलावा कुछ भी नहीं!
 कार्टीं हाथ और पाँवों की नसें,
 फूट पड़ीं हल्की-सी महज खून की चन्द बूँदें!
 खींचकर निकाल लीं आँखों की पुतली, पाकस्थली,
 उलट-पुलटकर देखी यकृत, पित्त-थैली;
 नोचकर निकाली योनि,
 ना, कहीं कुछ भी नहीं!
 कुछ भी नहीं दिमाग में, रीढ़ में, पीठ में, पेट में,
 दो अदद आँतें पड़ी रहीं उदास, दोनों ओर,
 उसे भी खोल-टटोलकर देखा गया,
 सब खाली-बेकार!
 लेकिन, दिल पर हाथ पड़ते ही,

हाँ, पड़ते ही हाथ, दिल पर,
उन लोगों को साफ-साफ समझ में आ गया,
वाकई इसमें कुछ है!
राक्षसी दाँतों और नाखूनों से चीरकर देखा,
अन्दर बसा था, एक देश! बांग्लादेश!

विपन्न, खून में नहाई हुई, मैं चीख-चीखकर उन लोगों को आवाजें देती हूँ, ताकि वे लोग सुन लें, मेरी बात सुनें! लेकिन कोई मेरी आवाज नहीं सुनता! बांग्लादेश नामक मेरा देश भी, मेरी आवाज नहीं सुनता! मैं अकेले बिल्कुल अकेले बड़बड़ाती रहती हूँ। मेरा उठकर भाग जाने का मन होता है।

बड़ी इच्छा करती है एक बार भागने की
बर्च, बीच और चीड़ों के खूबसूरत अरण्य
और शीतल शान्त बाल्टिक से घिरे इस सजे-धजे नगर से
मगर भागूँगी कहाँ, और कौन नगर है इस पृथ्वी पर जो कर रहा है
मेरी प्रतीक्षा?

मेरा सर्वांग ये लोग ढँककर रखते हैं गर्म चादर से
हाथ बढ़ाने से पूर्व खुद आ जाते हैं हाथ में प्रेम से भरे असंख्य हृदय,
इन सबको छोड़कर मन करता है कहीं और भागने को।
मगर भागकर जाऊँगी कहाँ? इस दुनिया में और कहाँ हैं ऐसे लोग
जो कर रहे हों मेरी प्रतीक्षा।

कितने-कितने शहरों में जाती हूँ, घूमती-फिरती हूँ, सैर करती हूँ! कितने-कितने शहरों में कितना कुछ देखती हूँ, लेकिन असल में क्या कुछ देखती हूँ? हाँ, देखती हूँ, लेकिन उस देखने में भी कोई और ही आँखें होती हैं, कुछ और ही देखने के लिए!

रात भर तुमने कितना कुछ दिखाया
पिकाडली सर्कस, बकिंघम पैलेस, ट्रेफलगर स्क्वायर,
दरअसल मुझे घास और उसके फूल के अलावा
कुछ भी नजर नहीं आता।
रात भर दिखाया मुझे टावर ब्रिज, चायना टाउन, हाउस ऑफ
कामन्स
निःसंग आसमान के अलावा
दरअसल मैंने कुछ भी नहीं देखा।

सो जाता है शहर, जगी रहती हूँ मैं सारी रात
उत्तर के सागर ओर की अन्धड़, बारिश, कन्धे पर लगती है

तेज हवा
और रात भर पागल लड़की की तरह भीगती हूँ टेम्स के जल में,
दरअसल, कोई नहीं जानता, मन ही मन भीगती हूँ मैं,
बहुत दूर छोड़ आए गहन ब्रह्मपुत्र में।

मैं जहाँ भी रहूँ, जहाँ भी जाऊँ, मेरा मन देश में ही पड़ा रहता है! मैं किसी हाल भी अपने मन को, अपने पास नहीं रख पाती। मेरा मन, इस निस्तब्ध जीवन में किसी हाल भी नहीं रहना चाहता। मेरी आधी-आधी रातें निपट गूँगी हो जाती हैं और उन रातों में सिर्फ सियारों के हुँआ-हुँआ की आवाजें गूँजती हैं। मेरी आँखों की पलकें समूची रात-रात भर खुली रहती हैं!

आधी रात के फोन तुम बजो मत!
तुम्हें दे रही हूँ तकिया, काँथा-कम्बल, नींद की दवा, सब कुछ
तुम सो जाओ।
पूरा शहर पड़ा है मुर्दे जैसा इस वक्त, आकाश भी सो गया है सितारे
बुझाकर।

तुम्हारी आवाज सुनकर मेरी रीढ़ में बहने लगती है ढेर सारी बर्फ,
मैं हो जाती हूँ पत्थर,
काल बैसाखी में जिस तरह काँपते हैं जराजीर्ण खजूर के पत्ते
वैसी ही काँपती है मेरी देह।
पलक झपकते ही उतर आते हैं टिड्डीदल मेरे धान दूर्वा पर...

स्वजन बन्धुहीन पड़ी हूँ अकेली, इतनी दूर बर्फ के देश में।
अचानक ही अट्टहास
करने लगती हैं खबरें राजनीति के पंकिल मैदान में
दौड़ते हैं मूर्ख उनके पीछे,
मौका पाते ही आँगन में, मैदान में, धान खेतों में रोपने लगते हैं धर्म
के बीज।
बस रही हैं बस्तियाँ, गाँव भरते जा रहे हैं पतिताओं, पीरों, भिखारियों से।
पिता के दिल का दर्द, पता चला, बढ़ा जाता है इधर और,
आँखों से भी दिखता है कम,
न जाने दोस्त अहबाब एक-एक करके जाने कहाँ रहे हैं भाग
आधी रात के फोन, बजो मत! इतनी रात को कोई नहीं है जगा,
रात के शराबी भी सब सो गए हैं,
तुम भी सो जाओ।

यह जिन्दगी लेकर, ठीक मैं कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी, मैं नहीं जानती। मेरी यह जिन्दगी, मैं महसूस कर रही हूँ कि झरती जा रही है। मैं समझ रही हूँ, मेरा यह जीवन, अब पहले जैसा नहीं रहा। मुझे अहसास हो चुका है, कि अब मेरे जीवन में, पहले जैसा उत्साह, पहले जैसी जीवन्तता नहीं रही।

कोई नहीं जानता,
झर जाता है जीवन, बर्च पत्तों की तरह!
जिसे पैरों तले रौंदते हुए, सब चले जाते हैं, अपनी-अपनी राह!
कभी पलटकर भी नहीं देखते!
जमती जाती हैं, अंग-प्रत्यंग पर बर्फ की पर्त, कंकड़-पत्थर!
चितपुर या अरमानी टोले की गली होती,
तो जरूर कोई अफसोस जाहिर करता!
भीड़ लग जाती पलाशी की सड़क पर,
धीमी पड़ जाती सवारियाँ श्याम बाजार, नील खेत में,
जीवन भरता है उड़ान, चंचल-चपल समुद्री पाखी की तरह,
किसी को नहीं पता, कहाँ, किस ओर!
पीछे से हाथ हिलाकर कोई अलविदा नहीं करता,
कोई नहीं पोंछता पसीना, आँचल या आस्तीन से!
कोई सिर की कसम नहीं देता वापस लौट आओ!

जिन्दगी पड़ी रहती है फुटपाथ पर, सूखे हुए फूल की तरह!
सिगरेट के फिल्टर की तरह!
कागज के लिफाफे की तरह!
कोई पलटकर नहीं आता,
देह पर जमती रहती है काई! कुरकुरमुत्ते!
झरती जा रही हूँ, बर्च पत्तों की तरह!
पड़ी रहती हूँ घुप्प अंधेरे में!
अब कौन है, जो चिराग जलाकर कहेजीओ!

नहीं, यह कोई बोलपुर नहीं, बनानी या बंग बाजार की भीड़ भी नहीं! मैं अकेली हूँ! भयंकर अकेली! हजारों लोगों की भीड़ घेरे हुए! फिर भी मुझ जैसी अकेली और कोई भी नहीं। नहीं, इस दुनिया में इतनी अकेली, और कोई नहीं है। मेरे इस घर का हर सामान पराए देश का है। हर सामान में, हर चीज में कुछ अजनबी सी गन्ध! मैं खुद अपनी नजरों में अजनबी होती जा रही हूँ। पागलों की तरह, हाँ, निपट पागलों की तरह ही, मैं बावर्चीखाने में जा घुसती हूँ, दिन में, रात में, आधी रात में! प्लेट में भात निकालती हूँ। जन्म-जन्म का जाना-पहचाना भात!

इन दिनों खाने की मेज पर लगातार बैठती हूँ लेकर मछली-भात
कलाई डुबोकर लेती हूँ दाल, सानती हूँ;
हिलता है बायाँ हाथ बार-बार मक्खियाँ भगाने की तरह
स्कैंडेनेविया के शीत नियन्त्रित घर में।
कीट-पतंगों का नामोनिशान न होने के बावजूद
फिर भी न जाने क्या भगाती रहती हूँ मन ही मन
दुःख?

मछली के मलिन टुकड़े, सब्जी थाली के एक छोर रखे नमक
और रसे से तर सने हुए भात से हटना नहीं चाहता हाथ
इच्छा करती है इसी तरह सानती रहूँ भात, खाती जाऊँ,
अपने गोपन में क्या मैं यह समझती नहीं कि सोने की चम्मच छोड़कर
क्यों इतनी लालायित रहती हूँ भात का स्वाद-गन्ध लेने हेतु।

असल में भात के स्पर्श से भात नहीं
लगता है मुट्ठी में आ जाता है भरपूर बांग्लादेश!

द्विराष्ट्रवाद का विष-बीज**

नरेन्द्र कोहली*

जब हम किसी धर्म के सात्विक रूप की व्याख्या करते हैं तो निश्चित रूप से उसमें से बहुत ही अच्छी बातें निकल कर आती हैं। किन्तु धर्म को बदनाम वे नहीं करते जो उसकी सात्विक और तात्विक व्याख्या कर रहे हैं। धर्म को बदनाम वे लोग करते हैं, जो अपने व्यवहार में उसके नाम पर गलत काम करते हैं। करते तो कुछ ही लोग हैं; किन्तु भुगतना सबको पड़ता है। इसलिए गलत करने वालों को समझाना आवश्यक हो जाता है। प्रायः होता यह है कि शिष्य लोग गुरु के नाम पर उनके सिद्धान्तों के ठीक विपरीत काम करते हैं; जैसे गांधी के नाम पर, गांधीवादी लोग कर रहे हैं। ऐसे में गांधी तक पहुँचना मुश्किल हो जाता है। यह है तो एक पृथक् विषय; किन्तु वह काम बहुत आवश्यक है। बहुत अच्छा काम किया, जो फिरोज अशरफ ने यहां इस्लाम का सात्विक रूप प्रस्तुत किया; अन्य स्थानों पर, अन्य मंचों से भी वे वही कहें। सिद्धान्तों को स्पष्ट होना ही चाहिए, उनका स्पष्टीकरण होना ही चाहिए कि मूल ग्रन्थ में क्या कहा गया और बाद के लोगों द्वारा क्या समझा गया।

किन्तु हमारा आज का विषय, जैसा कि महेश जी ने स्पष्ट किया, एक राष्ट्र को दो राष्ट्र बनाने वाली समस्या है स्वतन्त्रता के उत्सव के साथ विभाजन का कष्ट भी जुड़ा हुआ है। मृदुला जी ने भी उसकी चर्चा की। बात महत्वपूर्ण है। मैं तो स्यालकोट में पैदा हुआ था। मेरी आरंभिक शिक्षा लाहौर और स्यालकोट में हुई थी। अतः वह उर्दू भाषा के माध्यम से हुई थी। सन् 1947 ई. में हम जमशेदपुर चले आए। चूँकि मैं स्यालकोट में उर्दू सैक्शन में था, परिणामतः जमशेदपुर में भी उर्दू सैक्शन में ही स्थान मिला। उस समय शायद छठी-सातवीं कक्षा में था, जब हमारे एक अध्यापक ने विषय दियाराष्ट्रीय उत्सव पर एक निबन्ध लिखिए। मैंने लिखा 15 अगस्त सबसे बड़ा राष्ट्रीय उत्सव है। 1947 ई. में उस दिन क्या हुआ था, उस उत्सव के पहले दिन क्या घटित हुआ था, वह हमें जानना चाहिए। और मैंने स्यालकोट में देखी गई उस सारी दृश्यावली का वर्णन कर दिया। चारों ओर कोलाहल था। भयंकर उन्मादी नारे

* 175 वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली 110034

** लेखक का दीनदयाल शोधा संस्थान दिल्ली में द्विराष्ट्रवाद पर दिए भाषण पर आधारित

लग रहे थे। आग की लपटें आकाश को छू रही थीं। मकान और उसमें रहने वाले लोग अग्निसात् हो रहे थे। लोग चीख रहे थे, चिल्ला रहे थे, अपने प्राण बचाने के लिए भाग रहे थे।...

हमारे अध्यापक बेचारे बिहार के जमशेदपुर में बैठे हुए थे। उन्होंने कब देखा था कि स्यालकोट में क्या हुआ था, क्या नहीं हुआ था। वे नहीं जानते थे कि क्या विभाजन का दर्द था और क्या विस्थापन की त्रासदी होती है। मेरा निबन्ध पढ़कर घबरा गए। सोचा होगा कि यह कैसा लड़का आ गया है जो राष्ट्रीय उत्सव पर विभाजन की पीड़ा की बात कर रहा है। वे उत्सव और पीड़ा को एक साथ देख नहीं पाए, न ही सहन कर पाए। उन्होंने कहा कि पन्द्रह अगस्त राष्ट्रीय उत्सव नहीं है। तुम होली, दीवाली या ऐसे ही किसी त्यौहार के विषय में लिखो। इस निबन्ध को काटो। तो मेरा वह निबन्ध वहीं रुक गया।

मेरे साथ कुछ ऐसी ही घटना तब भी हुई थी, जब मैं जमशेदपुर आया ही आया था। तब मैं तीसरी कक्षा में था। स्कूल में मेरा नाम लिख गया, मेरा दाखिला हो गया और मैं कक्षा में आकर बैठा। हमारी क्लास-टीचर थीं फातिमा बेगम। वे मुझे पकड़कर बाहर मैदान में ले आईं। अलग, एकदम एकान्त में। बोलीं, “तुम हिन्दू हो?” मैंने कहा, “जी हाँ।” “तो फिर उर्दू क्लास में कैसे हो?” तब तक मुझे ज्ञात नहीं था कि उर्दू केवल मुसलमान पढ़ते हैं। मैं जहाँ से आया था, वहाँ तो सारे ही लड़कों को उर्दू भाषा पढ़नी पड़ती थी। कारण का ज्ञान तब मुझे नहीं था। मैंने कहा, “जी हम तो यह ही पढ़ रहे हैं।” उन्हें स्वीकार कर लेना पड़ा कि मैं भूल से उनकी कक्षा में नहीं पहुँचा हूँ।

बाद में मेरी भी समझ में आ गया कि अपने सैक्शन में मैं इकलौता ही नरेन्द्र कुमार था।

निबन्ध तो रुक गया किन्तु वह जो पीड़ा है, विभाजन की पीड़ा, हम उसे आज भी स्मरण करते हैं। किन्तु हम बहुत कुछ भूल भी गए हैं। यदि आप अपना पौराणिक इतिहास जानते हैं तो आप यह भी जानते होंगे कि सबसे पहले ईरान हमसे अलग हुआ था। या कहिए कि हमने ईरान खाली किया था। वह भी इसी देश का अंग था। उसके बाद अफगानिस्तान अलग हुआ। महाराणा रणजीत सिंह के समय तक तो अफगानिस्तान भी आपके ही पास था। इसी देश का अंग था। सन् 1947 ई. में पाकिस्तान पृथक् हुआ। कश्मीर पृथक् नहीं हुआ; किन्तु पृथक् होने के कगार पर है। सब कुछ सहते रहे हम। अब पीड़ा यह है कि विभाजन की इस त्रासदी की पुनरावृत्ति न हो।

जब द्वि-राष्ट्रवाद की बात आती है तो यह समझने की आवश्यकता होती है कि राष्ट्र है क्या? इसको हम पहले समझें। मेरी समझ में तो यही आता है कि राष्ट्र को या तो ऋषि बनाता है या राजा; या फिर राजा और ऋषि दोनों मिलकर बनाते हैं। ऋषि बनाता है, उसको संस्कृति के माध्यम से। संस्कृति हमें भीतर से बदलती है। हमारे

मानस का निर्माण करती है। राजा बनाता है, शासन के माध्यम से। शासन हमारे बाहर के व्यवहार को नियंत्रित करता हैदण्ड के विधान से। ये दोनों मिल जाँएँ तो एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण होता है। हम देखते ही हैं, कि जिस देश में प्रबल राष्ट्रीय भावना है, वहाँ किस तरह से लोग अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं।

संस्कृति की बात जब आती है तो मुझे लगता है कि इतिहास, भूगोल और दर्शनये तीन पक्ष प्रमुख हैं। और भी बहुत सारे पक्ष हैं। संस्कृति के अनेक घटक हैं; किन्तु ये तीन प्रमुख हैं। हम संस्कृति से प्यार करते हैं, तो हम अपने भूगोल से भी प्यार करते हैं, अपने इतिहास से भी प्यार करते हैं; और अपने दर्शन से भी प्यार करते हैं। क्यों करते हैं और क्यों करना चाहिएयह समझना भी आवश्यक है। हमारे द्रष्टाओं, जिन्हें हम ऋषि कहते हैं, ने देखा, पाया, खोजा, आविष्कार किया। मैं एक छोटी-सी घटना आपके सामने रखना चाहता हूँ। स्वामी विवेकानन्द को उनके गुरु ने कहा था, “जिसे तू ब्रह्म कहता है, मैं उसे ही माँ कहता हूँ। जब वह निष्क्रिय है तो ब्रह्म है, और जब वह सक्रिय है तो माँ है।” माँ अर्थात् प्रकृति, जिसको आप नेचर कहते हैं। वह है दुर्गा, जगदम्बा, भारत माता। स्वामी विवेकानन्द, अपने गुरु भाई अखण्डानन्द के साथ अल्मोड़ा जा रहे थे। अखण्डानन्द का मूल नाम था गंगाधर। स्वामी जी की यह आदत थी कि वे लोगों का नाम बिगाड़ कर, एक तरह का विनोद करते थे।

मार्ग में वे काकड़ी घाट पर रुके। सोने से पहले ध्यान में बैठे तो सचमुच समाधि लग गई। समाधि से उठे तो अखण्डानन्द से बोले, “गैजेस, आज मैंने वह देखा है, जो आज तक कभी नहीं देखा था।” अखण्डानन्द ने चकित होकर पूछा कि क्या देख लिया? समाधि में ऐसा क्या देख लिया? स्वामी बोले, “मैंने देखा कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है।” अखण्डानन्द हँसे, “यह कौन-सी नई बात की भाई, जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। हम सब जानते हैं।” स्वामी बोले, “नहीं! मैंने स्वयं देखा कि शिव, जो चैतन्य तत्त्व है, जो चित्त तत्त्व है, उसको घेर रखा है, प्रकृति ने।” उन्होंने अँग्रेजी के ‘एनकेस्ट्र’ शब्द का प्रयोग किया। प्रकृति ने, जो पार्वती है, जो दुर्गा है; उसने चैतन्य को घेर रखा है। चैतन्य को जड़ तत्त्व ने घेर रखा है। अन्दर जो है वह चैतन्य है, बाहर जो है वह जड़ है। भीतर जो है वह ब्रह्म है, बाहर जो है वह प्रकृति है। प्रकृति के बिना ब्रह्म, अपने आपको प्रकट नहीं कर सकता। आत्मा को प्रकट होने के लिए शरीर चाहिए, वैसे ही ब्रह्म को प्रकट होने के लिए प्रकृति चाहिए। इसलिए जितनी भी सृष्टि है, इसको स्वामी विवेकानन्द ने कहा, “इट इज नॉट क्रियेशन, इट इज प्रोजेक्शन।” जो कुछ भी है, वह ब्रह्म है। प्रकृति के रूप में ब्रह्म ही अपने आपको प्रकट करता है। जो कुछ हमको सृष्टि के रूप में दिखाई देता है, वह ब्रह्म का ही प्रकट रूप है। वह ब्रह्म ही है। अतः सृष्टि हमारे लिए उतनी ही पूज्य है, जितना कि ब्रह्म है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति में, गंगा को माँ माना गया है। यमुना, सरयू, कृष्णा,

कावेरी, गोदावरीसारी नदियाँ पवित्र मानी गईं। हिमालय, चित्रकूट, विंध्याचल, गोवर्धनकोई भी पर्वत ले लीजिए, उन सबको उसी ब्रह्म का प्रकटीकृत रूप मानकर, उनको पवित्र, पूज्य तीर्थ माना गया। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, कामाख्या से लेकर द्वारका तक, जितने भी तीर्थ हैं, वे पूज्य हैं। यह उस भूगोल से प्यार करना है, उस संस्कृति से प्यार करना है।

जब हम वह सब सुनते हैं, जिनकी चर्चा आज यहाँ मुझसे पहले बहुत हुई कि हम वन्दना नहीं करेंगे देश की, वन्देमातरम नहीं गाएँगे, सरस्वती पूजा नहीं होने देंगे, सूर्यनमस्कार नहीं करेंगे...तो हमें संस्कृति के सन्दर्भ में बहुत कुछ सोचना पड़ता है। इस तरह के कई उदाहरण बीच-बीच में आते रहते हैं। हम यह नहीं करेंगे, हम वह नहीं करेंगे। यह होने नहीं देंगे, वह करने नहीं देंगे। क्यों? क्योंकि हमारे धर्म में इसकी मनाही है। मैं फिरोज अशरफ जी से सहमत हूँ, पूर्णतः सहमत हूँ कि धर्म को उसके वास्तविक सन्दर्भ में न समझने के कारण इस प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। यह कठमुल्लापन है। किन्तु जब इस प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं, संस्कृति के विरोध की बात आती है, तो उसी से कहीं-न-कहीं बिखराव का आरम्भ दिखाई देता है। कानों में संकट की घण्टी बजने लगती है। यदि इस संस्कृति का विरोध इस ढंग से हुआ तो कहीं, हम पुनः द्वि-राष्ट्रवाद की ओर तो नहीं जा रहे, एक और विभाजन को आमन्त्रित तो नहीं कर रहे? इस प्रवृत्ति को कौन प्रेरित कर रहा है? यहाँ 'पॉलिटिशियन' शब्द बहुत आया है, बार-बार आया है। क्या यह उनके ही कारण तो नहीं?

जवाहरलाल नेहरू ने तो कभी अपने मुख से स्वीकार नहीं किया कि वे द्वि-राष्ट्रवाद को मानते हैं। कभी मुख से स्वीकार किया नहीं; किन्तु व्यवहार में स्वीकार किया, कर्म से स्वीकार किया, तथ्य के रूप में स्वीकार किया। तीन पूरे और दो आधे प्रदेश, इस भारत भूमि से काटकर, एक पृथक् राज्य और राष्ट्र स्वीकार कर लिया। महेश जी ने ठीक कहा है कि भूमि को आप काट नहीं सकते, लकीरें ही खींच सकते हैं; किन्तु एक पृथक् शासन तो स्थापित कर ही दिया गया। ठीक है, जो हो गया, उसको स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है। किन्तु एक महत्वपूर्ण घटना, जिसकी ओर मेरा ध्यान जाता है, वह है कश्मीर की घटना। कश्मीर में जिस समय पाकिस्तानी आक्रमण हुआ। कहा तो यही गया कि कबाइली आए हैं; किन्तु हम जानते हैं, कि वह पाकिस्तानी आक्रमण था। उसे रोकने के लिए सेना की आवश्यकता थी। पहले तो जवाहरलाल नेहरू ने ही बहुत आनाकानी की कि वे सेना नहीं भेजेंगे। सेना भेजने के लिए राजा हरिसिंह पर पचासों शर्तें लगाई गईं। यह करो, नहीं तो सेना नहीं भेजूँगा। 'नहीं भेजूँगा' का अर्थ था कि पाकिस्तान कश्मीर ले जाता है तो ले जाए। और उसके बाद जब सेना भेजी, तो एक और चमत्कार किया। जो सेना बढ़ रही है, जो अपने ही प्रदेश को जीतने के लिए आगे जा रही है, जो अपनी छिनी धरती को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही थी, उस सेना को बीच में ही रुक जाने का आदेश दे दिया। अँग्रेजी

में कहते हैं न कि प्लेट में रखकर कश्मीर का इतना बड़ा भू-खण्ड पाकिस्तान को भेंट कर दिया।

इतना ही नहीं, अगर उसको भी विभाजन का ही एक अंग मान लेते तो स्थिति कुछ और होती। कश्मीर में शेष भारत के प्रदेशों से, किसी भी धर्म के हिन्दू तो हिन्दू, मुसलमान का जाना भी निषिद्ध था, वर्जित था। और आज भी है। आप बाहर से जाकर वहाँ नहीं बस सकते। हमारे पड़ोस में एक प्रो. कुरैशी थे। उन्होंने कभी एक किस्सा सुनाया था। जब वे श्रीनगर में पढ़ाते थे, दिल्ली से ही गए, उर्दू के एक प्रोफेसर का वहाँ देहान्त हो गया। देहान्त हो गया तो उनको वहाँ दफनाना था। दफनाना था तो परम्परा के अनुसार कब्रिस्तान में उनके लिए जमीन खरीदी जानी थी। तब स्थिति यह हो गई कि मृतक तो हिन्दुस्तानी है कश्मीरी नहीं। इसलिए उनके परिवार के लोग उनकी देह को दफनाने के लिए कश्मीर के कब्रिस्तान में जमीन नहीं खरीद सकते। अन्ततः उनके एक कश्मीरी मित्र ने अपने नाम पर जमीन खरीदकर उनको दफनाने की व्यवस्था की। इस सीमा तक यह हुआ कि लोग भारत के अन्य प्रदेशों से कश्मीर में नहीं जा सकते। उसी का परिणाम आज आप देख रहे हैं।

कश्मीर में कश्मीरी, डोगरी और लद्दाखी भाषाओं की जगह, केवल उर्दू के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। किसने किया यह और क्यों किया? किया जवाहरलाल ने। क्यों किया? यह मानकर कि मुसलमानों की भाषा उर्दू है। कश्मीरी मुसलमान की भाषा कश्मीरी नहीं, उर्दू है। इसका अर्थ यह हुआ कि भाषा, प्रदेश के आधार पर न होकर, धर्म के आधार पर होगी। मुसलमान कश्मीर का हो, तो भी उर्दू पढ़ेगा, उत्तर प्रदेश का हो, मध्य प्रदेश का हो, तो भी उर्दू पढ़ेगा। आज केरल में भी मुसलमान उर्दू पढ़ने के प्रयत्न में है। जब हिन्दुओं और मुसलमानोंदोनों की भाषा आप अलग कर देंगे, तो उन दोनों समाजों के मध्य संवाद के रास्ते तो आपने वहीं बन्द कर दिए। दोनों का धर्म अलग है, इसको स्वीकार किया। पर दोनों का साहित्य भी अलग हो जाएगा। एक-दूसरे की लिपि नहीं जानेंगे, एक-दूसरे की भाषा नहीं जानेंगे, एक-दूसरे के विचार नहीं जान सकेंगे। जहाँ आज एक प्रादेशिक भाषा है भी, वहाँ यह विष आगे बढ़ता चला जा रहा है। यह एक नया विभाजन है, जो अपना मुँह फैलाता जा रहा है।

लोग कहते हैं कि कोई भाषा किसी धर्म की नहीं होती। मैं भी मानता हूँ कि कोई भाषा किसी धर्म की नहीं होती। भाषा तो प्रदेश की होती है। तो फिर यह बँटवारा जवाहरलाल नेहरू ने क्यों किया? किस अलगावाद को पनपाने के लिए किया? किसलिए इन समाजों में निहित विभाजन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया? यह एक बहुत बड़ा उदाहरण है। दुनिया के किसी देश में ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा कि कश्मीर हमारा है, भारत का है, वहाँ हमारा प्रशासन हैऐसा मानते हैं हमसेना हमारी खड़ी है; किन्तु उस प्रदेश में एक भी हिन्दू नहीं रह सकता। नहीं रह रहा। निकाल दिया गया। जो कश्मीर का वर्तमान है, वह भारत के किसी भी प्रदेश का

भविष्य हो सकता है। इसलिए हमको सोचना पड़ता है कि यह द्वि-राष्ट्रवाद कहाँ से, किस ओर से बढ़ रहा है? हम यह कहकर छुटकारा पा लेते हैं कि राजनीति ने ऐसा किया। ठीक है; किन्तु राजनीति में कौन कर रहा है यह? उस पर अँगुली रखनी आवश्यक है, उसे चिह्नित करना जरूरी है। मुझे लगता है कि यह प्रवृत्ति भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ ही आरम्भ हो गई; और उसके पश्चात् बढ़ती ही चली गई। शासन ने उसे बढ़ावा दिया है। अब कह लीजिए, उसने बढ़ावा दिया, जिसका शासन था; और यह शासन काँग्रेस का था।

संविधान का निर्माण मैंने कहा, ऋषि करता है; और वह यह कार्य संस्कृति के माध्यम से करता है। जब आप संस्कृति अलग कर देंगे, भाषा अलग कर देंगे, साहित्य अलग कर देंगे, तो ऋषि तो कुछ कर नहीं सकता; और जो शासक है वह क्या कर रहा है? वर्तमान भारतीय संविधान के सामने भी दोनों हिन्दू और मुसलमान एक जैसे नहीं हैं, समान नहीं हैं। बहुत सारी बातें यहाँ पहले ही कह दी गई हैं। उन्हें दुहराने की मुझे आवश्यकता नहीं है। संविधान में जो भेद-भाव है, वह स्पष्ट है। संविधान में जिनको बहुसंख्यक कहा गया, वे अपने लिए शिक्षण-संस्थान नहीं बना सकते। जिनको अल्पसंख्यक कहा गया, वे अपना पाठ्यक्रम स्वयं तय करेंगे। अपने लिए शिक्षा-संस्थान स्वयं बनाएँगे। बहुत अच्छी बात की फिरोज अशरफ ने कि उर्दू के स्कूल बना दिए गए; किन्तु उनमें पढ़ाई जाने के लिए पुस्तकें कहाँ हैं? उनका मानना है कि मुसलमानों के साथ धोखा किया गया है। मेरा यह कहना है कि इसके पीछे क्या-क्या कारण हो सकते हैं, वे बड़े विस्तार की बातें हैं; किन्तु इतना तो कहना ही चाहूँगा कि उर्दू को लालू प्रसाद ने द्वितीय राजभाषा बना दिया। हिन्दी का अधिकार छीनकर उर्दू के हाथ में थमा दिया। मुलायम ने भी खजाने का मुँह खोल दिया और अर्जुन सिंह कहते हैं कि उर्दू को सारे देश में हिन्दी के समकक्ष खड़ा कर देंगे। मनमोहन सिंह ने करोड़ों रूपयों का अनुदान उर्दू की पुस्तकों को उपलब्ध कराने के लिए दिया है। किसके मूल्य पर? हिन्दी के मूल्य पर। और लक्ष्य क्या है? उर्दू का इतना समर्थ कर दें, कि किसी भी प्रदेश में मुसलमान स्थानीय भाषा न पढ़ें।

मजे की बात तो यह है कि राष्ट्र एक है किन्तु विभिन्न समाजों का पाठ्यक्रम अलग है, भाषा अलग है, संस्थान अलग है, उनमें नियम अलग है। सेंट स्टीफेंस कॉलेज बनता है और उसको अल्पसंख्यक कॉलेज कहकर यह अधिकार दे दिया जाता है कि पचास प्रतिशत आरक्षण केवल ईसाई छात्रों के लिए होगा। यह तो दिल्ली में है। तथ्य हैं, आपके सामने हैं, आप जाकर पता कर लीजिए। कौन उनको यह बतला रहा है कि “तुम अलग हो”? कौन उनको अलगाव की ओर धकेल रहा है? कौन पृथक् हो जाने के लिए, उनके सामने लुभावने स्वप्न परोस रहा है?

उसी प्रकार जब आप यह कहेंगे, कि बहुसंख्यक समाज, वह पढ़ेगा, जो सरकारी स्कूल या कॉलेज निश्चित करेगा, तो अलगाव तो बढ़ेगा ही। हो सकता है कि फिरोज

जी को यह लगा हो कि वे लोग भाग्यशाली हैं, जिनको सरकार स्वयं पढ़ा रही है; किन्तु आप यह भूल जाते हैं कि उनको वह पढ़ाया जा रहा है, जो अँग्रेज चाहते थे और चाहते हैं। हम अपना जितना भी गौरवगान कर लें कि हमारे देश में बड़े वैज्ञानिक हुए हैं, बराहमिहिर हुए हैं। किन्तु आपके पाठ्यक्रम में, इस देश की शिक्षा में कहीं बराहमिहिर हैं? आप पाइथागोरस को ही पढ़ते रहेंगे, अपने ज्यामितिविद् आपको कभी स्मरण ही नहीं आएँगे। जिस ज्यामिति को यहाँ बनाया गया, या जो गणित हमारा है, वह किसी पाठ्यक्रम में नहीं है। आप अर्थशास्त्र पढ़ाइए, चाणक्य कहीं हैं। तो जिसको आप बहुसंख्यक कह रहे हैं, सरकार कह रही है, उसको तो आप विदेशी शिक्षा-प्रणाली में विदेशी शिक्षा दे रहे हैं। उसको इस देश से, इस देश की संस्कृति से बेगाना कर रहे हैं; और जिनको आप अल्पसंख्यक कह रहे हैं, उनको आप यह स्वतन्त्रता दे रहे हैं, कि वे अपनी एक पृथक् भाषा में किसी और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करें। क्या इस विधि से आप एक राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं?

जो भारतीय अमरीका जाते हैं, इंग्लैण्ड जाते हैं, उनका अध्ययन कीजिए। मैंने अपने बहुत निकट के लोगों को देखा है कि उनके मन में उस राष्ट्र के प्रति भी सम्मान है और वे उस देश की भाषा तो बोलते ही, बोलते हैं। उस देश की और भी अनेक चीजों के प्रति, उनकी राष्ट्रीयता और संस्कृति के प्रति भी अनुकूल होते चले जाते हैं। मेरे मन में प्रश्न यह उठता था कि यह कैसी विचित्र बात है कि अपने देश के प्रति तो वह भाव होता नहीं, अपनी भाषा के प्रति तो वह अनुराग होता नहीं; और विदेश की भाषा के लिए इतना प्यार क्यों और कैसे उमड़ता है? उसका एक ही उत्तर है कि वे देश एक ही भाषा में, एक ही पाठ्यक्रम सारे देश को पढ़ाते हैं, सारे बच्चों को पढ़ाते हैं। यहाँ तक कि प्रवासियों को भी। और उसमें राष्ट्रीय गौरव कूट-कूटकर भरा होता है। हमारी सरकार पहले तो एक भाषा नहीं पढ़ा रही, एक पाठ्यक्रम नहीं पढ़ा रही। सबके अलग-अलग सिद्धान्त और अलग-अलग नियम हैं; और उसके बाद भी जो पाठ्यक्रम सरकार या यूनिवर्सिटी के आदेश पर, पढ़ाया जा रहा है उसमें राष्ट्रीय गौरव कहीं नहीं है। पहली बात आपको बतलाई जाती है कि आप तो बाहर से आए हुए हैं। आप आर्य हैं, आर्य बाहर से आए थे। यह देश आपका है ही नहीं। जब प्रश्न किया जाए, आपके पास इसका क्या प्रमाण है? तो उनके पास भी कोई प्रमाण नहीं है। आर्यों ने अपने किसी ग्रन्थ में इस भारत भूमि के बाहर के किसी स्थल की प्रशंसा में मस्तक नवाया हो, ऐसा कोई प्रमाण हो तो बताएँ। क्यों वे बार-बार हिमालय गंगा, यमुना और इस देश की ही बात करते हैं? खैर। पहली बात तो आपको यह ही पढ़ाई गई कि ये देश आपका नहीं है। आपका देश कौन सा है, आप जानते ही नहीं हैं। आप तो बाहर से आए हुए हैं। आप बाहर से आकर बसे हुए हैं। इसलिए गौरव की बात क्या होगी?

मैंने बच्चों की एक छोटी-सी कहानी, “जूते की कथा” एक समाचार पत्र में पढ़ी। कहानी में यह कहा गया कि आदिम मनुष्य नंगे पाँव चलता था। वन में रहता था। जंगली नहीं कहना चाहिए, वनवासी या आदिम था। जब उसको काँटे चुभे, पत्थर चुभे, कुछ और कष्ट हुआ, तो ग्रीस के लोगों ने पैरों के नीचे कुछ घास-फूस बाँधना शुरू किया। फिर रोमनों ने चमड़ा बाँधा। मिस्र में यह हुआ, इटली में वह हुआ। अन्त में यूरोप में जूता बना। यह कथा पढ़कर मेरे मन में एक बात आई कि भारत में तो कभी किसी ने जूता पहना ही नहीं। यहाँ तो जूते की कोई चर्चा ही नहीं है। जिस व्यक्ति ने वह कथा लिखी है, मेरा अनुमान है कि वह विदेशी है। उसने अपने विचारानुकूल वह कथा लिखी। जिस भारतीय अनुवादक ने उसे पढ़कर, अपने नाम से छपवाया है, उस मूर्ख के मन में कहीं अपने राष्ट्र की बात नहीं आई, कि मेरे देश में भी तो जूते पहने जाते हैं। क्या लोग आज भी नंगे पैर ही चल रहे हैं? पादुका शब्द उसने सुना ही नहीं। हमारे जो सैनिक सिकन्दर से लड़े, वे क्या नंगे पाँव ही लड़े? महाभारत के युद्ध में पैरों में जूते नहीं थे क्या? रामायण में ऋषि पादुका पहनते थे तो राजा, सैनिक और साधारण जन क्या पहनते थे?

दिव्यकत यह है कि यह जो सारा इतिहास हम अपने बच्चों को पढ़ाते हैं, वह केवल पिछले दो सहस्र वर्षों का है; और जब हम रामसेतु की बात करते हैं, जो नासा वाले कहते हैं, कितना? साढ़े सत्रह लाख वर्ष! जब हम अपने भारतीय पांचांग के अनुसार युगों, कल्पों और वर्षों की बात करते हैं तो हम लाखों वर्षों की संख्या तक जा पहुँचते हैं। आज जो लोग आपको पढ़ा रहे हैं वे तो 2000 वर्ष से भी कम के पांचांग और इतिहास वाले हैं। इतिहास उससे इतना प्राचीन है और उसमें इतना कुछ है, जिसे वे जानते ही नहीं। जब जानते नहीं और जानना चाहते भी नहीं तो पढ़ाएँगे क्या? संसार का यह एकमात्र देश है, जो समर्थ होते हुए भी, अपने सामर्थ्य को पहचानना नहीं चाहता। हमारी सरकार देश के सारे विश्वविद्यालयों में एक विदेशी भाषा में, अँग्रेजी में, विदेशी पाठ्यक्रम को, विदेशी पद्धति से पढ़ाती है, ताकि हमारे बच्चे अमरीका में जाकर उनकी नौकरी कर सकें। चाहें तो यहाँ करैएक हजार अमरीकी डॉलर में प्रसन्न रहें। अमरीका में चपरासी भी उससे अधिक वेतन लेता है। और हमारा युवक गर्व से कहता है कि मुझे पचास हजार रुपए मिल रहे हैं। बड़ा प्रसन्न है कि जो शिक्षा वहाँ दी जा रही है, वही उसे यहाँ भी दी जा रही है। उसके लिए पापी कौन? वह शिक्षा जो आपको, अपने लोगों को, अपने देश के युवकों को, युवा पीढ़ी को, अपने ही धन से, विदेशी बना रही है, उसके लिए पापी कौन है? इस पर विचार कीजिए। और जो अलग-अलग शिक्षाएँ दे रहे हैं, उसका कारण क्या है? उसका परिणाम क्या है?

हम भारतीय संविधान की बात करते हैं। संविधान में यह माना गया कि हिन्दू और मुसलमान बराबर नहीं हैं। दोनों को अलग-अलग नियम दिए गए हैं। प्रतिक्षण

संविधान की प्रतिद्वन्द्विता शरीयत से है। न्यायालय पर्याप्त नहीं हैं, इसलिए 'अल्पसंख्यक आयोग' भी होना चाहिए। अब उसके लाभ भी हैं तो हानि भी है। जो भी है, जिस ओर से भी देखिए, मेरा तो मुद्दा सिर्फ एक है उसके कारण लोग बँट जाते हैं। एक ससुर अपने बहू के साथ बलात्कार करता है और वह मामला अदालत में जाकर बलात्कारी को दण्डित करने की जगह, एक फतवे पर टिक जाता है कि वह पति अब उस पत्नी के साथ नहीं रह सकता; क्योंकि स्त्री अब उसके पिता की पत्नी हो गई है। न्यायालय कहाँ है इसमें? यदि आप ढेर सारे अन्य आयोग बनाकर, न्यायालय के अधिकारों को इस प्रकार सीमित करते जाएँगे, तो देश में संविधान का राज्य कहाँ रह पाएगा? फिर मनमोहन सिंह जैसे आदमी ने कहा कि इस देश के संसाधनों पर, मुसलमानों का पहला अधिकार है। मेरा विचार है कि औरंगजेब भी ऐसी बात कहने का साहस नहीं कर सकता था, जो मनमोहन सिंह ने कही। क्यों भई, क्यों उनका पहला अधिकार है? आप भारतीयों को एक क्यों नहीं कर सकते? सबके अधिकार एक समान क्यों नहीं हो सकते? इस देश के संसाधनों पर, भारत के संसाधनों पर भारतीयों का समान अधिकार है। जब आप कहते हैं कि मुसलमानों को, मुसलमान शब्द नहीं है, क्षमा कीजिए, अल्पसंख्यकों को आगे बढ़ाने के लिए उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाए, तो जिनको आप अल्पसंख्यक नहीं मानते, उनको आप आगे बढ़ाने के प्रयत्न नहीं करेंगे? आप उनकी सरकार नहीं हैं, उनके प्रतिनिधि नहीं हैं? उनका देश, उनका शासन नहीं है? जब आप कहते हैं कि अल्पसंख्यकों को मकान बनाने के लिए पैसा दो, तो जो अल्पसंख्यक नहीं हैं, उनको क्यों नहीं दो? उन्हें घरों की आवश्यकता नहीं है? वे खुले आकाश के नीचे रहेंगे? जब आप कहते हैं कि अल्पसंख्यकों को व्यापार करने के लिए ऋण दो और ब्याज मत लो, तो प्रश्न है कि उनका ब्याज कौन भरेगा; और शेष लोगों को भी वह सुविधा क्यों न दो? राजनीतिक दलों, राजनीतिक लोगों और राजनीतिक नीतियों का यह सारा कार्य-व्यापार क्यों है? सिवाय इसके कि अल्पसंख्यक नाम का जो भी सम्प्रदाय हो, वह इस देश में रहकर भी अलग-थलग रहे, भारत में ही रहे किन्तु अलग-थलग रहे, अलग सोच पालता रहे और भविष्य में जाकर नए पाकिस्तान बनाए। पहले आरक्षण दे दीजिए, नौकरी दे दीजिए, फिर वोटों का भी आरक्षण हो जाए। किस धर्म के कितने लोग संसद में रहेंगे। और इस प्रकार अलग-अलग क्षेत्र बन जाएँगे। चुनाव के लिए जैसे आज आरक्षित क्षेत्र हैं बहुत सारे। वैसे ही धीरे-धीरे पृथक् आरक्षित देश भी बन जाएँगे। राष्ट्र की बात कोई नहीं कहेगा, शासन की बात कहेगा।

यहाँ आतंकवाद की बात हुई, पर मैं आतंकवाद की बात नहीं कर रहा; क्योंकि आतंकवाद के प्रति हमारी सरकार बहुत सहृदय है। सरकार को बहुत प्यार है उनसे। भई क्यों उसे दण्डित करें, बेचारे ने मार दिया गुस्से में कहीं दो सौ आदमियों को, कहीं दो सहस्र लोगों को तो क्या हो गया? क्रोध में इतना तो हो ही जाता है। और यह

आतंकवाद, आप क्षमा कीजिएगा, केवल पाकिस्तान से प्रेरित और समर्थित मुस्लिम आतंकवाद ही नहीं है, अल्फा भी है, नागा भी है, मिजो भी है, नक्सलवादी भी है, माओवादी भी है, एल.टी.टी.ई. भी है। आपके देश में प्रत्येक दिशा में सशस्त्र लोगों की सेनाएँ घूम रही हैं। और क्रमशः उनकी शक्ति बढ़ रही है। हमारी सरकार उनको दबाना नहीं चाहती, रोकना भी नहीं चाहती। यहाँ बार-बार एक शब्द आया है तुष्टिकरण। मैं कहता हूँ, कि तुष्टिकरण से यदि अल्पसंख्यक सन्तुष्ट हो जाते हों और मुख्य धारा में समाहित होते हों, सामंजस्य बढ़ता हो, सामरस्य होता हो, हम परस्पर निकट आते हों, एकरस, एकरूप होते हों, तो तुष्टिकरण भी ठीक ही है; किन्तु यह तुष्टिकरण वह है, जो उनको अलगाव की ओर ले जा रहा है, पृथक्ता की ओर ले जा रहा है, अलग कर रहा है। इसलिए यह तुष्टिकरण भी नहीं है। यह देशद्रोह है। मृदुला जी बार-बार कह रही थीं कि हम सब इसके जिम्मेदार हैं। मैं तब से कहना चाह रहा हूँ कि मैं नहीं हूँ। 'हम' में मुझे न उलझाएँ, मैं उसकी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं हूँ। जो लोग कर रहे हैं वे उसको भुगतें।

आज का विषय है द्वि-राष्ट्रवाद। इसलिए मैं आगे नहीं जा रहा; किन्तु सत्य यह है कि यह विखण्डन की राजनीति है। केवल दो राष्ट्र नहीं, इसके आगे भी टूटने-फूटने की बात आती है चाहे वह माओवाद के नाम पर हो, चाहे जातिवाद के नाम पर हो, चाहे ट्राइब्स के नाम पर हो, चाहे वह धर्म के नाम पर हो। यह विखण्डन की राजनीति है। इससे देश को सब ओर से संकट है, खतरा है। हमको नीति की दृष्टि से जिन विषयों पर ध्यान देना चाहिए, वे स्पष्ट हैं। संस्कृति के प्रभाव को, शासन के प्रभाव को प्रभावी बनाते हुए, लोगों को एक राष्ट्र का अंग होने का बोध कराना बहुत आवश्यक है। और मुझे कहने दीजिए कि इसमें हमारी सरकार सर्वथा असफल रही है; या यह कह दूँ कि वह यह चाहती ही नहीं।

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘आस्था-भारती’ का जनवरी-मार्च 2007 का अंक पढ़ कर समाप्त किया। इसके सारे आलेख उत्तम हैं ‘को बड़ छोट कहत अपराधू’। तब भी मुझे देवेन्द्र इस्सर, सदानन्द प्रसाद गुप्त, श्रीरंजन सूरिदेव, कुमार सौरभ ‘तित्तिर्पु’ के आलेख ज्यादा रुचिकर एवं विचारोत्तेजक लगे।

- (प्रो.) कृष्णनारायण प्रसाद ‘मागध’, छकौड़ी विद्या, सिलाव (नालन्दा)।

‘चिन्तन-सृजन’ जैसी वैचारिक पत्रिका का संपादन-प्रकाशन कर आप वैचारिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में एक विशिष्ट कार्य कर रहे हैं, मेरी बधाई स्वीकार कीजिएगा।

- डॉ. हेमराज मीणा, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा।

जुलाई-सितम्बर का अंक आ. रघुवीर, रमेशचंद्र शाह, उदयन वाजपेयी, श्रीरंजन सूरिदेव, राजमल बोरा और पुष्पपाल सिंह की महत्त्वपूर्ण शोधपरक आलेखों के कारण संग्रहणीय बन गया है।

श्री शंकर शरणजी ने ब्रिटेन में इस्लामी उग्रवाद के विकास का प्रामाणिक विवेचन किया है। यह लेख भारत के सेकुलरवादियों के लिए चेतावनी है।

-(प्रो.) शत्रुघ्न प्रसाद, पटना।

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में धुरिकीर्तनीय त्रैमासिक ‘चिन्तन-सृजन’ का, जुलाई-सितम्बर 2007 का अंक मिला। अवश्य ही इस पत्रिका में छप कर किसी भी लेखक को अपनी लेखन-सार्थकता का बोध होता होगा। इस अंक में छपकर मैं भी सारस्वत गरिमा से अभिभूत हुआ हूँ। आपकी सम्पादकीय मनीषा केवल आशंसनीय ही नहीं, प्रशंसनीय भी है।

सम्पादकीय में, बहुश्रुत विद्वान डॉ. राजमलजी बोरा के असामयिक निधन की सूचना पढ़कर मर्माहत हुआ। अवश्य ही, उनके महाप्रयाण से भाषिक अनुशीलन के क्षेत्र में अपूरणीय रिक्तता आ गई है। मैं तो इन्हें अपनी युवावस्था से आज तक बुढ़ापे में भी पढ़ता आ रहा हूँ। उनके चले जाने से मैंने अपना एक सारस्वत अभिभावक खो दिया है! अस्तु,

इस अंक में सम्मिलित सभी आलेख एक से एक हैं। 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की स्थिति है। फिर भी आचार्य रघुवीर की 'देवनागरी लिपि', शंकर शरण की 'ब्रिटेन में इस्लामी उग्रवाद का विकास', 'प्राकृतपैंगलम और आधुनिक भाषाएँ', पुष्पपाल सिंह की 'पत्रकारिता का भाषाबोध' आदि रचनाएँ भारतीय शास्त्र-चिन्तन को नई दिशा देने वाली हैं। ये रचनाएँ उच्चस्तरीय शोध-अध्ययन के लिए प्रामाणिक और विश्वसनीय उपजीव्य सिद्ध होंगी। सत्साहित्य के सृजन एवं साहित्य में श्रीतत्त्व के चिन्तन की दृष्टि से यह त्रैमासिक अपने-आप में अपूर्व और अन्वर्थनामा है।

- (डॉ.) श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।

“चिन्तन-सृजन” त्रैमासिक का जुलाई-सितम्बर अंक मिला। ..., द्वैमासिक, त्रैमासिक पत्रिकाओं की भीड़ में 'चिन्तन-सृजन' अपना एक अलग मुकाम रखती है, जो व्यावसायिकता से बहुत दूर है। पत्रिका के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ स्वीकारें।

- डॉ. लक्ष्मीनारायण शोभन, गुना, (म. प्र.)।

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितम्बर, 2007 का अंक मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ प्रकाशित सभी निबंध चित्ताकर्षक, तथ्यपूर्ण और समयोपयोगी हैं। लेकिन इन लेखों में से शंकर शरण द्वारा लिखित “ब्रिटेन में इस्लामी उग्रवाद का विकास” और पुष्पपाल सिंह का लेख “पत्रकारिता का भाषा-बोध” सबसे अच्छा लगा। प्रथम निबंध के साथ और दो शब्द जोड़कर कहना चाहता हूँ कि आज समग्र विश्व के लिए ही यह बड़ी चिन्ता की बात है कि प्रायः सभी राजनीतिक दल जनस्वार्थ और राष्ट्रीय स्वार्थ से दलीय स्वार्थ को ज्यादा महत्त्व दे रहे हैं। उनके लिए देशप्रेम का नारा सिर्फ वोट लाभ का हथियार मात्र है। सरकारी तथ्य के अनुसार हमारे पूर्वोत्तर भारत में भी अनेक जेहादी संगठन सक्रिय रूप से काम कर रहे हैं। हाल ही में प्रचलित एक सि. डि. के द्वारा लादेन ने असम को भी वृहत् इस्लामिस्तान में शामिल करने का आह्वान किया है। लेकिन आश्चर्य का विषय यह है कि समाचार पत्रों में इन सभी बातों का खुलासा होने के बाद भी राज्य सरकार, अन्यान्य राजनीतिक दल, तथाकथित सामाजिक एवं छात्र संगठन आदि एकदम खामोश हैं। यह बात ध्यातव्य है कि एक गणतंत्र के लिए इस प्रकार की धृतराष्ट्रीय भूमिका अत्यन्त निन्दनीय एवं दुर्भाग्यपूर्ण है।

दूसरे निबंध के संबंध में हमारी मान्यता यह है कि भूमंडलीकरण के फलस्वरूप दूसरे विषयों के साथ भाषा-साहित्य में भी इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। सिर्फ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं, आंचलिक भाषाओं के समाचार पत्रों में भी अंग्रेजी का अंधाधुंध प्रयोग आजकल एक “फैशन बन गया है। जापान, चीन, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशों के लोग अपने भाषा-साहित्य को लेकर गौरव करते हैं, पर

हमारे देश में लोग अपनी भाषा की अवहेलना कर और विदेशी भाषा अपनाकर गौरव करते हैं। कितनी विचित्र बात है! अगर हमारे देश के प्रांत प्रांत में प्रचलित उपभाषा, विभाषा, बोलियों, तथा उपबोलियों के शब्दावली को संवादपत्रों में यथायोग्य स्थान मिलता तो कितना अच्छा होता! लेकिन यदि हम आधुनिक होने का मतलब अगर हिंग्लिश का प्रयोग करना समझ लें; तो इससे ज्यादा बिडम्बना क्या हो सकती है! हम सबको यह तत्व ध्यान में रखना है कि आधुनिक बनने का मतलब अपनी संस्कृति और पहचान को नये रूप से आविष्कार करना है, न कि उसकी अवहेलना या उपहास करना।

-नव कांत शर्मा, शोध-छात्र, हिन्दी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, असम।

आपकी पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' की चर्चा "सामान्यजन संदेश" के अंक 78 में देखी। अति प्रभावित किया।

-मदन मोहन, जयपुर।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पत्रिकाएँ:

संकल्प, कमल संदेश विशेषांक, संपादक: प्रभात झा; प्रकाशक: डॉ. रामकृपाल सिन्हा, सचिव, डॉ. मुकर्जी स्मृति न्यास, पी.पी.66, सुब्रह्मण्यम भारती मार्ग, दिल्ली-110003; पृष्ठ: 294।

समीक्षा, वर्ष: 40 अंक: 3, अक्टूबर-दिसंबर, 2007, संपादक: गोपाल राय: हरदयाल, एच-2, यमुना, इ.गा.रा. मु. विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली, पृष्ठ: 56, वार्षिक 100 रुपए।

साहित्य अमृत, 150वाँ अंक, जनवरी 2008; साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक मासिक; संपादक: त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी; प्रकाशक: मुद्रक तथा स्वत्वाधिकारी: श्यामसुंदर; 4/11, आसफ अली रोड, नई दिल्ली2, पृष्ठ: 178, मूल्य: 40 रुपए।

कलालोक, अक्टूबर 2006; सम्पादक: बलकेश; प्रकाशक: वरुण इंटरप्राइजिज, अम्बाला छावनी; पृष्ठ: 80, मूल्य: 10 रुपए मात्र।

प्रयास (गोवा), हिंदी वार्षिक पत्रिका, अंक-03, वर्ष: 2006-2007; संपादक: रवीन्द्रनाथ मिश्र, प्रकाशक: अमन प्रकाशन, 104-ए/118, रामबाग, कानपुर208 012 (उ.प्र.); पृष्ठ: 86, मूल्य: 50 रुपए।

संस्थान समाचार, वर्ष 6, अंक 17-18 (संयुक्तांक), जुलाई-दिसंबर 2007; संपादक: प्रो. परमलाल अहिरवाल; प्रकाशक: केन्द्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा5; पृष्ठ: 16.

लोकराज्य महाराष्ट्रची भरारी (मराठी), वर्ष 59, अंक 9, नवम्बर 2007; संपादक: सतीश लळीत, मुद्रक व प्रकाशक: मनीषा पाटणकर-म्हैसकर, नवीन प्रशासन भवन, 17वा मजला, मुंबई; पृष्ठ: 64, मूल्य: 5 रुपए।

मुक्तिमार्ग, वर्ष: 2 अंक: 12, नवम्बर 2007; संपादक: नानक चेलानी; संपादकीय कार्यालय 304, सफायर हाउस, सपना-संगीता मार्ग, इन्दौर; पृष्ठ: 32, मूल्य: 10 रुपए।

नागरी संगम, वर्ष: 29 अंक: 115, जुलाई-सितम्बर 2007; संपादक: डॉ. परमानन्द पांचाल; नागरी लिपि परिषद्; 19, गांधी स्मारक निधि, राजघाट, नई दिल्ली; पृष्ठ: 64, मूल्य: 25 रुपए।

पाँचवाँ स्तंभ, अगस्त - 2007, वर्ष: 1 अंक: 10; सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक तथा स्वत्वाधिकारी: श्रीमती मृदुला सिन्हा, द्वारा, पी. टी. 62/20 कालकाजी, नई दिल्ली-110019; पृष्ठ: 36, मूल्य: 10 रुपए।

अवध-अर्चना, साहित्यिक-सामाजिक-वैज्ञानिक सरोकार की शोधपरक त्रैमासिकी; अंक 1 वर्ष 13, वैशाख-आषाढ़ वि. सं. 2064, मई-जुलाई 2007; संपादक: विजय रंजन; प्रकाशक, मुद्रक: डॉ. (श्रीमती) निरुपमा श्रीवास्तव; 19, अश्फाक उल्लाह कालोनी, फैजाबाद, (उ. प्र., भारत); पृष्ठ: 56, मूल्य: 20 रुपए।

सभ्यता संस्कृति, जनवरी 2008, सं. 67; संपादक, प्रकाशक: डॉ. रिचा सिंह; पृष्ठ 4, मूल्य 10 रुपये।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

Dialogue

Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

34 issues published uptil now

Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia

Fiscal Mismanagement in North East India

Maoist Insurgency in Nepal and India

India: Security Dimensions,

Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia

Secularism: India in Labyrinth

India's Neighbourhood

Governance in the North-East

Policing in India

India and Central Asia

Population Issues

Naxalism

Indo-Pakistan Relations & Kashmir

Media in India

India's North East

India: Political Culture, Governance & Growth

Understanding India

India: The Internal Security

Education in India

India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy

Caste, Community and Social Justice

Coming Special Issues

India's Encounter with the West

Indian Parliament and the Legislatures

